कार्यालय आर्षग्रन्थावलि लाहौर

※ संस्कृत विद्या के अनमोल रत्न ※

अर्थात् वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, धर्मशास्त्रों, और इतिहास ग्रन्थों के शुद्ध सरल सरस और प्रमाणिक हिन्दी उल्थे, जो श्रीमान् पं० राजाराम जी प्रोफेसर डी० ए०वी० कालेज लाहौर ने किये हैं—

७००) रु० नकद इनाम

१—श्री वाल्मीकि रामायण—हिन्दी टीका सहित—यह टीका ऐसी सरल, सुबोध और पक्षपातरहित बनी है, कि इस पर प्रसन्न होकर पञ्जाब गवर्नमिन्ट और यूनीवर्सिटी ने पं० राजाराम जी को ७००) रु० नकद इनाम दिया है। ऐसा बड़ा पुस्तक, और ऐसी उत्तम टीका, और फिर मूल्य केवल ५।)

यह पुस्तक हर एक घर में रहनी चाहिये।

२—महाभारत—महाभारत की कथाएं किस के चित्त को नहीं लुभातीं, यह आर्यजाति का श्रद्धेय और प्रिय इतिहास ग्रन्थ ऐसा और कहीं नहीं छपा है। ऊपर मूल श्लोक, नीचे श्लोक वार हिन्दी टीका, विचारणीय विषयों पर विचार और आरम्भ में महाभारत सम्बन्धी कई बातों पर पूरा प्रकाश डालने वाली बड़ी विस्तृत भूमिका। पूरे अठारह पर्व। इस पर भी गवर्नमिन्ट से इनाम मिला है, और यूनीवर्सिटी ने लाइब्रेरियों में इस पुस्तक के रखने की प्रेरणा की है। मूल्य १०)

३—गीता—इस पर भी गवर्नमेंट से ३००) रु० इनाम मिला है। ऊपर मोटे अक्षरों में मूल श्लोक, नीचे पद २ का अर्थ, फिर अन्वयार्थ, फिर सविस्तर भाष्य है। मूल्य २)

गीता हमें क्या सिखलाती है। ।)

आर्यदर्शन का विषयसूची ।

भूमिका

विषय	पृष्ठ
धर्म पर मनुष्य की श्रद्धा और उस के उत्तम फल	१
धर्म के विरुद्ध आक्षेप और उन के उत्तर	२
सच्चे धर्म की पहचान और परीक्षा	७
ग्रन्थारम्भ	
प्रमाणों से परीक्षणीय विषय	१२
परीक्षा का क्रम	१३
व्यक्त पर एक दृष्टि, और निर्विवाद विषयों का निर्धारण	१४
जगत् की उत्पत्ति का विचार	२०
जगत के मूलतत्त्व का विचार ।	
पहले युक्ति से मूलतत्त्व का निर्धारण, फिर वेद से निर्धारण, फिर वेद की पुष्टि में अन्यशास्त्रों के प्रमाण, अनन्तर बाईबल और कुरान का सिद्धान्त बतलाया है	२३
जीवन के मूलतत्त्व का विचार	
चार्वाक के देहात्मवाद का खण्डन और आधुनिक वैज्ञानिकों के आक्षेपों के उत्तर दे कर देह से अलग आत्मा सिद्ध किया है	३६
आत्मा के स्वरूप का विचार	३८
आत्मा के विषय में वेदों का सिद्धान्त	७७
उपनिषदादि शास्त्रों से वैदिक सिद्धान्त की पुष्टि	७८
आत्मा के विषय में मुसलमानों और ईसाइयों का सिद्धान्त	८०
ईश्वर विचार	
इस में जैनियों और आधुनिक नास्तिकों के आक्षेपों के उत्तर देकर युक्ति प्रमाण पूर्वक ईश्वर की सिद्धि की गई है	८२
ईश्वर के विषय में वेद का सिद्धान्त	१०२
मुसलमानों और ईसाइयों का सिद्धान्त	१०५
तीन अनादि	१०६
ईश्वर के स्वरूप, गुण कर्म और स्वभाव का विचार	
ईश्वर चेतन सर्वज्ञ सर्व शक्ति है	११२

वेद का सिद्धान्त ११३
उपनिषद् और दूसरे शास्त्र ११६
बाइबल और कुरान का सिद्धान्त १२१
ईश्वर सर्व व्यापक आत्मा है १२४
वेद का सिद्धान्त १२६
ईसाइयों और मुसलमानों का सिद्धान्त १२९
ईश्वर का कोई आकार नहीं १३१
ईश्वर एक अद्वितीय है १३२
वेद का सिद्धान्त १३४
ईसाईओं और मुसलमानों का सिद्धान्त १३७
ईश्वर परिपूर्ण है १४१
जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है १४२
वेदका सिद्धान्त १५०
ईसाइयों और मुसलमानों का सिद्धान्त १५३
ईश्वर कर्मों का फलदाता है १५४
पुनर्जन्म १५७
एक जन्मवादियों के प्रश्न और उन के उत्तर १६७
ईसाइयों और मुसलमानों के पुनर्जन्म न मानने का कारण १७२
पुनर्जन्म मानना क्यों आवश्यक है १७३
वेद का सिद्धान्त १७५
धर्म और अधर्म के ज्ञान की आवश्यकता, और उस के ज्ञान के लिए ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता १७६
ईश्वरीय ज्ञान किस पुस्तकमें है १८३
ईश्वरीय पुस्तक की पहचान–इस में भगवान् वेद, होली बाइबल और कुरानशरीफ की भीतरी साक्षियों के सहारे पर सारे विचार किये गए हैं १८३
वेद की दूसरे आगमों से विशेषता २०१
बाइबल और कुरान की भीतरी साक्षियां २१४
सिद्धान्त का निर्णय २१८

❀ आर्य दर्शन ❀

भूमिका ।

(धर्म पर मनुष्य की श्रद्धा और उसके उत्तम फल)

धर्म पर श्रद्धा मनुष्य की प्रकृति में है । भूमण्डल में कोई ऐसी जाति नहीं, जिसका कोई धर्म न हो । जङ्गली से जङ्गली जातियां भी कुछ न कुछ धार्मिक विश्वास अवश्य रखती हैं, चाहे वे अपने बड़ों की मढ़ियों को पूजने तक ही अपना धर्म समाप्त करदें, पर धार्मिक विश्वास के बिना रह नहीं सकती हैं । चोर और डाकू भी चोरी और डाका मारने के लिए मन्नतें मानकर जाते हैं, और सफलता लाभ करने पर आकर चढ़ावे चढ़ाते हैं । इतिहास किसी ऐसे समय का पता नहीं देता, जब मनुष्यजाति धार्मिक विश्वास से शून्य रही हो। धार्मिक विश्वास मूढ़ से मूढ़ में और प्रखरबुद्धि विद्वान् में एक तुल्य पाया जाता है । और यह विश्वास यदि डगमगाता न हो,तोइस विश्वास का उत्तम फल मनुष्य के अन्य सारे भावों पर अपना अधिकार जमा लेता है । इस विश्वास ने मनुष्य का बहुत बड़ा कल्याण किया है । जो उत्साह और उल्लास (उमंगें) इस धार्मिक विश्वास से मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होते हैं,वह और किसी तरह उत्पन्न नहीं होसकते । जितना त्याग धर्म सिखलाता है, वा जैसा आत्मबल धर्म उत्पन्न करता है, और किसी भाव की

ऐसी शक्ति नहीं, कि इतना साग और इतना आत्मबल मनुष्य में उत्पन्न करदे। वह कौन भाव है? जिसने दशरथ को प्राण हारकर भी वचन न हारने दिया, और राम को राज्य त्याग वन के महाकष्ट सहने के लिए उद्यत किया। वह कौन भाव है? जिस ने बड़े असह्य दुःखों में भी सीता को डोलने नहीं दिया। वह कौन भाव है, जिसने शङ्कर की विधवा माता को यह प्रबल प्रेरणा की, कि वह अपने इकलौते बेटे को गुरुकुल में भेजदे, और आप बरसों ही उसका मुख देखने से भी वञ्चित रहे? क्या यह भाव सिवाय धर्म के कोई और है? एक सैनिक भी अपनी वीरता की धाक उसी समय बन्धाता है, जब वह अपना धर्म जान धर्म पर प्राण न्योछावर करने के लिए तय्यार हो जाता है, बल्कि एक डाकू भी अपने साथी के बचाने के लिए उसी समय प्राणपर्ण से लड़ता है, जब वह उसे धर्म जान उस का पालन करता है। पापियों में भी धर्म का अंश रहता है, और वह धर्म का अंश ही उन में सच्चा साग दिखलाता है। सर्वथा धर्म मनुष्य की उन्नति का बहुत बड़ा साधन रहा है, और रहेगा। यही कारण है, कि धर्म मनुष्य को सदा प्यारा रहा है, और रहेगा।

धर्म के विरुद्ध आक्षेप और उनके उत्तर — पर जहां धार्मिक विश्वास ने लोगों को बहुत बड़े लाभ पहुंचाए हैं, वहां बड़ी २ हानियां भी पहुंचाई हैं। धर्म के नाम पर देवताओं के सामने नरबलि चढ़ाई गई, धर्म के नाम पर लोग स्वयं बलिदान हुए, धर्म के नाम पर लोगों को तलवार के घाट उतारा गया,

और कभी २ निरपराध स्त्रियों और बच्चोंपर भी बड़े २ अत्याचार किये गये, ये सारी ऐतिहासिक घटनाएं हैं, अत्युक्ति नहीं॥

पर इसके कारण तीन ही हुए हैं, एक तो धर्माचार्य्यों का भ्रम (वहम) दूसरा उनका स्वार्थ, और तीसरा मतभेद।

धर्माचार्य्यों के भ्रम से नरबलि जैसी विधियां प्रचलित हुई, स्वार्थ से वाममार्ग जैसे मत प्रचलित हुए, और गुरुडम्भ प्रचलित हुए। मतभेद से जो अत्याचार हुए, और अब भी लड़ाई झगड़े होते हैं, वे आबाल वृद्ध प्रसिद्ध हैं।

सो इस लाभप्रद धार्मिक विश्वास में जो हानिप्रद अंश है, वह भ्रम, स्वार्थ और मत भेद का है। इसी अंश ने कई लोगों को धर्म पर अविश्वासी भी बना दिया है, अपितु कईयों को धर्म से घृणा भी उत्पन्न करादी है। ये लोग हैं, जो यह कहते हैं, कि धर्म की कोई आवश्यकता नहीं। मनुष्य को अपना आचार व्यवहार शुद्ध रखना चाहिये, और मनुष्यमात्र से भलमनसाई का वर्ताव होना चाहिये, बस इतना बहुत है। परलोक वा परमेश्वर किसने देखा है, उसके लिए व्यर्थ झगड़े क्यों उठाने चाहियें। पर आश्चर्य है, कि ये लोग अपनी इन बातों को एक मत बना लेते हैं, और मत वालों की तरह ही उन पर लड़ते झगड़ते हैं। भेद केवल इतना ही होता है, कि एक तो परलोक और परमेश्वर की सिद्धि के लिए वाद विवाद करता है, दूसरा इनके अभाव की सिद्धि के लिए वाद विवाद करता है। यह भी दूसरे मतों की तरह अपना एक मत बना लेता है। ऐसे वादियों से तो इतना ही कहना है, कि धर्म को तुम देश निकाला तब देसकते हो, जब धर्म के लिए श्रद्धा को मनुष्य की प्रकृति से बाहर निकाल फैंको, पर ऐसा तुम

कभी नहीं कर सकोगे, मनुष्य के हृदय में धर्म के लिए श्रद्धा है, वह चाहे ईश्वर की दी हुई है, वा स्वभाव से है, पर है अवश्य, इसका अपलाप नहीं होसकता। तुम जो परलोक और परमेश्वर का अपलाप करके भी यह कहते हो, कि मनुष्य को अपना आचार व्यवहार शुद्ध रखना चाहिये, और मनुष्यमात्र से भलमनसाई का वर्ताव करना चाहिये, यह भी तो धर्म है। देखो तुम्हारे हृदय के अन्दर भी यही धर्म पर श्रद्धा विद्यमान है। रहा परलोक और परमेश्वर का प्रश्न, इसको भी तुम हटा नहीं सकते, क्योंकि यह प्रश्न भी हरएक मनुष्य के सामने आता है, क्या मेरा जीवन यहीं समाप्त होजाएगा, वा आगे भी रहेगा, और इस अद्भुत सृष्टि का कोई रचने हार है, वा अपने आप ही हो गई है। इन प्रश्नों का उत्तर सभी चाहते हैं, आप भी चाहते हैं, भेद इतना है, कि आपने इनका उत्तर 'न' में पाकर अपने चित्त को ठण्डा कर लिया है, पर इसका उत्तर पाए बिना तुम्हारा चित्त भी शान्त नहीं हुआ। किन्तु तुम्हें यह निश्चय जान लेना चाहिये, कि जिनको इन प्रश्नों का उत्तर "हां" में मिलता है, उनका चित्त तुम से कई गुणा अधिक शान्ति और आनन्द लाभ करता है, और उनके आचार व्यवहार और वर्ताव पर अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रत्युत परलोक और परमेश्वर को न मानकर तो आचार व्यवहार का उतना ही फल रह जाता है, जितना इस जीवन से सम्बन्ध रखता है, हां परलोक और परमेश्वर को मानकर, इस जीवन में जो उस का फल है, वह तो है ही, पर इस जीवन के पीछे भी उसका फल माना जाता है। सो जब इन दोनों प्रश्नों का उत्तर पाए बिना चित्त को शान्ति नहीं आती, तो 'न' की अपेक्षा 'हां' का उत्तर पाने

वाले घाटे में नहीं, वाधे में ही रहते हैं। और सच तो यह है, कि परलोक परमेश्वर का विषय निरा अनुमानगम्य ही नहीं, इसका साक्षात्कार भी होसकता है, और जो साक्षात्कारी अनुभव का विषय हो, उसका अपलाप होसकता ही नहीं, इस लिए धर्म सर्वथा उपादेय ही है।

अब यह देखना है, कि धर्म भेद वा मत भेद के कारण जो मार काट और अत्याचार हुए हैं, उनका उत्तरदायित्व किस पर है, क्या धर्म पर, वा धर्मानुयायिओं पर। धर्म पर तो इसलिए नहीं, कि धर्म यदि परमात्मा का दिया हुआ है (जैसा कि सब आस्तिक-धर्मी मानते हैं), और उस ने अपनी प्रजा के कल्याण के लिए दिया है, तो यह हो नहीं सकता, कि किसी भावना से भी कोई भी अत्याचार ऐसे धर्म का अंश बन सके। धर्म तो—

धारणाद् धर्ममित्याहु र्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

धर्म, धारण (अर्थ वाले धृ धातु) से कहते हैं। धर्म प्रजाओं का धारण करता है जिस कर्म से सारी प्रजाओं का धारण हो, वही धर्म है, यह निश्चय है। (महाभा० कर्ण ६९।५९)

इसलिए जिस बात ने अत्याचार कराया है, वह या तो धर्म में अधर्म का अंश मिल गया है, या धर्मानुयायिओं का दोष है। धर्मानुयायिओं का भी दोष तभी होसकता है, यदि धर्म का निर्भर निरा विश्वास पर न माना जाए, क्योंकि यदि धर्म का निर्भर निरा विश्वास पर हो, तब तो वे, जिन्होंने महात्मा सुकरात को मरवाया, अपने पक्के धार्मिक विश्वास

से ऐसा किया, जिन्होंने हज़रत मसीह को सूली पर चढ़ाया, अपने दृढ़ धार्मिक विश्वास से ऐसा किया, फिर क्यों उनको दोषी ठहराया जाए, क्यों न वे भी पूरे धर्मात्मा माने जाएं, क्योंकि उन्होंने जो किया, धार्मिक विश्वास से किया। पर उन के कर्म को अब धर्म कहने वाला कोई नहीं है। इस से स्पष्ट है, कि धर्म का निर्भर निरा विश्वास पर नहीं, उस की कोई परख भी है। जिसने अब उनके कर्म को अधर्म ठहरा दिया है। धर्म यदि निरे विश्वासों ही का नाम हो, किसी ऐसी वस्तु का नाम न हो, जिसकी कोई परख भी होसके, तब तो धर्मों का विरोध कभी मिट सकता ही नहीं। एक कहता है, सब कुछ ब्रह्म ही है, दूसरा कहता है, आदि में तो केवल ब्रह्म ही था, पर जब से उस ने इस जगत् को उत्पन्न किया है, तब से ब्रह्म जीव और जगत् तीन हैं। तीसरा कहता है, ब्रह्म के सदृश जीव और जगत् का उपादान भी सदा से हैं। अब यह तो निःसन्देह है, कि ये परस्पर विरुद्ध मन्तव्य हैं, इसलिए सत्य इनमें से एक ही होसकता है, सभी नहीं। हां यह होसकता है, कि सत्य इन सब से अलग ही हो, पर यह कभी नहीं होसकता, कि ये सब सत्य हों, क्योंकि वस्तु का यथार्थ ज्ञान मनुष्य के अधीन नहीं, कि जैसा मनुष्य चाहे, वैसी वह वस्तु होजाए, किन्तु वस्तु के अधीन होता है, जैसी वह वस्तु है, वैसा जानना ही यथार्थ ज्ञान होता है। जैसे मार्ग में पड़ी हुई रस्सी है, तो उसको रस्सी जानना ही यथार्थज्ञान होगा, मनुष्य यदि सर्प जानता है, तो उसके जानने से रस्सी सर्प नहीं हो जाएगी। वह तो रस्सी है, उसका यथार्थ ज्ञान यही है, कि यह रस्सी है। रस्सी के सिवाय जो कुछ भी

उसको समझोगे, वह सब मिथ्या होगा । इसी प्रकार यदि ब्रह्म ही एक सत्य है, जगत् और जीव उस से भिन्न कोई परमार्थ सत्ता नहीं रखते, तो यही एक सत्यमत होगा । और सारी झूठी कल्पनाएं होंगी, यथार्थ ज्ञान यही एक होगा । और यदि ब्रह्म अनादि सत्य है, उस ने जीव और जगत् को उत्पन्न किया है, सो जीव औरजगत् अनादि तो नहीं,पर हैं परमार्थ सत्,तो फिर यही एक सत्यमत होगा, और सारी झूठी कल्पनाएं होंगी, और यदि ब्रह्म भी अनादि है,जीव भी अनादि है, और जगत् का कारण भी अनादि है,तो फिर यही एक मत सत्य होगा,और सारी झूठी कल्पनाएं होंगी । अथवा यदि सत्य बात कोई और ही है, जैसाकि जड़ प्रकृति ही एक तत्त्व है, उसी से जैसे सूर्य पृथिवी आदि बने हैं, इसी प्रकार पृथिवी पर के तृण पौदे वृक्ष भी उसी से बने हैं, और उसी में चेतनता उत्पन्न होकर सब जीव जन्तु बने हैं, और यह सब कुछ बनता उसकी अपनी शक्तियों से है, बनाने वाला कोई नहीं है,तो फिर यही एक सत्यमत होगा, और सारी झूठी कल्पनाएं होंगी। सो सचाई जब एकही हो सकती है,तो सच्चा धर्म सारे जगत् के लिए एक हीहोसकता है । इसलिए हमें पक्षपात हठ दुराग्रह छोड़कर सच्चे धर्म की परीक्षा करनी चाहिये जिस्से हम सब एक सच्चे धर्म को पालें,और विरोध दूर होजाए ।

सच्चे धर्म की परीक्षा किस तरह होसकती है ? सच्चे धर्म को हम परखना चाहें, तो यह देखें, कि उसके मन्तव्य ईश्वरीय नियमों के अनुसार हैं, वा नहीं । ईश्वर सृष्टि के नियन्ता हैं, सृष्टि उनके नियमों का प्रकाश करती है, इसलिए जो मत सृष्टि नियमों के विरुद्ध शिक्षा देता है, वह सच्चा धर्म नहीं, अतएव ईश्वरीय नहीं । सच्चा धर्म वही है, जो सृष्टि नियमों का सम्वादी

हो, और सृष्टि नियम जिसके सम्वादी हों । जैसाकि प्रोफेसर हक्सली ने कहा है—

True Science and true Religion twin sisters and the separation of either from the other is sure to prove the death of both. Science prospers in proportion as it is religious and a religion flourishes in exact proportion to the scientific depth and firmness of its basis.

"सच्चा विज्ञान और सच्चा धर्म सगी बहनें हैं–उनका वियोग निःसन्देह दोनों को नष्ट कर देगा, विज्ञान जितना धर्म परायण होगा, उतनी उसकी वृद्धि अधिक होगी, एवं धर्म अधिक फलता फूलता है,जब कि उस की वैज्ञानिक नींव गहरी और दृढ़ हो ॥

धर्म सचाई है, इस में सब मतों की एक सम्मति है ।

ईसाई जब हज़रत मसीह की और उनके हवारियों की, एवं मुसलमान जब हज़रत मुहम्मद की और उनके असहाबा की प्रशंसा करते हैं, तो वे मानों इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं, कि धर्म एक सचाई है,जिसको हज़रत मसीह वा हज़रत मुहम्मद ने पालिया । और जिन हवारियों और असहाबा ने अपने माने हुए धर्मों को छोड़कर उनकी बातों को माना, उन्हों ने सचाई का आदर किया । आर्य्य धर्म में तो स्पष्ट ही बतला दिया है,कि धर्म और सचाई एक ही वस्तु है—

"स नैव व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मम् । तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः, तस्मात् धर्मात् परं नास्ति । अथो अबलीयान् बलीयाᳩसमाशᳩसते धर्मेण, यथाराज्ञैवम् । यो वै स धर्मः, सत्यं वैतत्

तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वदन्तꣳ सत्यं वदतीति। एतद्ध्येव तदुभयं भवति" ॥

(बृहदारण्यक, उप० १।४।१४)

(मनुष्यों के रच देने मात्र से) वह (परमात्मा) (उनके कल्याण साधन के) पूरा समर्थ नहीं हुआ, इसलिए उसने एक और बड़ी कल्याणकारिणी सृष्टि रची अर्थात् धर्म। सो यह जो धर्म है, यह एक राज्यबल का भी राज्यबल है, सो धर्म से बढ़कर (इस जगत् में) कोई वस्तु नहीं है। अतएव एक दुर्बल मनुष्य भी धर्म की सहायता से अधिक बल वाले पर शासन करता है, जैसे राजा की सहायता से (एक साधारण सिपाही) (वह धर्म क्या है?) वह धर्म निःसन्देह यह है, जो यह सचाई है। इसलिए (अब भी) यदि कोई सत्य कहता है, तो लोग कहते हैं कि " धर्म (की बात) कहता है " और यदि धर्म कहता है, तो लोग कहते हैं, कि सत्य कहता है। सो निःसन्देह यह (सचाई) ही दोनों रूप है (धर्म भी और सचाई भी)।

जब यह निश्चित होगया, कि धर्म एक सचाई है, तो हम वर्तमान धर्मों में से एक सच्चे धर्म का, हां उस धर्म का, जिसके आदेश किसी जाति देश और काल की सीमा में बन्द न हों, किन्तु समस्त जातियों के लिए, समस्त देशों के लिए, और तीनों कालों के लिए मनुष्यमात्र के हितकर हों, जिसको सच्चे अर्थों में सार्वभौम धर्म कहा जाए, ऐसे धर्म का पता लगा सकेंगे, यदि हम सच्चे नियमों के अनुसार उसकी परीक्षा करें। सच्चे नियम सृष्टिनियम हैं। जो सृष्टि को नियम में चला रहे हैं। जब ईश्वर इस सृष्टि के नियन्ता हैं, तो ये नियम उस नियन्ता

के साक्षात् धर्मोपदेश हैं, इस में क्या सन्देह होसकता है, आर्य-धर्म इन नियमों को ईश्वरीय बतलाता है । वेद में सृष्टिनियमों को ऋत शब्द से कहा गया है । और वे तीन मन्त्र जो सन्ध्या में प्रतिदिन दोनों समय पढ़े जाते हैं, जो अघमर्षण–मन्त्र कहे जाते हैं, उन में सृष्टि की रचना से पहले इन नियमों का ईश्वर से प्रादुर्भाव बतलाया है "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत" । वेद में मित्र वरुण सूर्य आदि सब को ऋत के पालने वाले बतलाया है, और मनुष्य को इस के पालन करने की आज्ञादी है । इतना ही नहीं, किन्तु ऋग्वेद ४ । २३ में पूरे तीन मन्त्रों में ऋत का बड़ा स्पष्ट वर्णन किया है, जिन में से पहला मन्त्र यह है—

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वी
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥

(ऋग्वेद ४ । २३ । ८)

ऋत की सनातन शक्तियें निःसन्देह आरोग्यबलदायक ओषधियें हैं, ऋत का ज्ञान * सारे पापों को मिटा डालता है । ऋत की जागती और चमकती हुई ध्वनि मनुष्य के बहरे कानों को खोल देती है ॥

कैसी ओजस्विनी भाषा में सृष्टि नियमों का सच्चा वर्णन है । सो आओ हम धर्म पुस्तकों के वाक्य ऋत की ध्वनि के साथ

* अथवा ऋत की भक्ति=आज्ञा मानना ।

मिलाकर पढ़ें, इस से हम एक ही निश्चित सचाई पर पहुंचेंगे और वही ईश्वरीय धर्म होगा। इस ग्रन्थ में यही मार्ग सत्यासत्य के निर्णय का अवलम्बन किया है॥

धर्म के मुख्य अंग दो हैं मन्तव्य और कर्तव्य।

इस ग्रन्थ में मन्तव्यों पर विचार किया जाएगा, कर्तव्यों पर विचार दूसरे ग्रन्थ में होगा।

इस ग्रन्थ में हम दिखलाएंगें, कि आर्य्यधर्म निरा विश्वास का धर्म नहीं, वह एक सच्चा दर्शन है, यथार्थ अनुभव है। इस लिए इस ग्रन्थ का नाम आर्य्य दर्शन रक्खा है॥

इस से आप यह भी जान लेंगे, कि जो प्रश्न अब मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो रहे हैं, हमारे पूर्वजों ने उन पर पहले ही विचार कर दिया है, और उनके यथार्थ उत्तर दे दिये हैं। जो इस में स्पष्ट किये गए हैं। उन के विचार दार्शनिक विचार कहलाते हैं, इससे भी इसका नाम आर्य्य दर्शन ही समुचित प्रतीत हुआ है।

❋ ओ३म् ❋

आर्य्य-दर्शन.

(मङ्गलाचरणम्)

या ते धामानि परमाणि याऽवमा
या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः
स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥

(ऋग्वेद १०।८१।५ यजुर्वेद १७।२१)

हे विश्वकर्मन्! ये तेरे धाम जो उत्तम अधम और मध्यम हैं, इन सब की हम सारे सहाध्यायिओं को सच्ची शिक्षा दो, और हे प्रकृति के अधिष्ठातः! हम जो कुछ भी भेंट लाते हैं, उसी पर प्रसन्न होकर स्वयं अपनी पूजा को पूर्ण करो ॥

प्रमाणों से परीक्षणीय विषय।

'मैं हूं" यह ज्ञान मच्छर से लेकर मनुष्य पर्यन्त समस्त प्राणधारियों में एकसमान है, इस में न किसी को कभी भूल होती है, न कोई संशय होता है। भूल तब हो, जब किसी को यह अनुभव हो, कि 'मैं नहीं हूं,' पर ऐसा अनुभव असम्भव है, क्योंकि जो अनुभव करने वाला है, वही तो 'मैं' है, वह 'मैं नहीं हूं' कैसे अनुभव कर सकता है। इसलिए 'मैं हूं' इस में कभी किसी को भूल नहीं होती। और जब 'मैं नहीं हूं' यह भूल हो नहीं सकती, तो 'मैं हूं या नहीं हूं' ऐसा संशय कब हो सकता है। इसलिए 'मैं हूं' यह ज्ञान सर्वानुभवसिद्ध

निर्विवाद है। पर 'मैं क्या हूं' यह कोई विरला ही जान पाता है, अतएव इस में वादियों का मतभेद है।

इसी प्रकार "मुझे अपने से भिन्न यह जगत भी भासता है" यह भी सर्वानुभव सिद्ध निर्विवाद मत है। पर 'जो कुछ भासता है, वह क्या है, और उसका तत्त्व क्या है' यह कोई विरला ही जान पाता है, अतएव इस में भी वादियों का मतभेद है। सारांश यह है, कि जो हमारे साक्षात अनुभव की बात है, उस में कोई मतभेद नहीं, कोई विवाद नहीं। हरएक अपने सद्भाव को साक्षात अनुभव करता है, और हरएक रूपादि विषयों को साक्षात अनुभव करता है, इस में न कोई मतभेद है, न विवाद है। पर 'मैं' का वस्तुतत्त्व और रूपादि विषयों का वस्तुतत्त्व हरएक लौकिक पुरुष अनुमान से जानता है, न कि साक्षात करता है इस लिए इस में मतभेद है। जिस विषय में मतभेद है, उसकी प्रमाणों से परीक्षा करनी चाहिये।

परीक्षा का क्रम } प्रमाणों में प्रत्यक्ष की महिमा सब से बढ़कर है, अनुमान प्रत्यक्ष के बल पर ही खड़ा होता है, और शब्द प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के बल पर खड़ा होता है, प्रत्यक्ष वा अनुमान से जाने बिना यदि कोई पुरुष कुछ बतलाता है, तो उसका वचन माना नहीं जाता, हां यदि वह किसी दूसरे के वचन से कहे, जिसने कि उस अर्थ को प्रत्यक्ष वा अनुमान से जाना हो, तब उसका वह वचन ग्राह्य होता है। सो शब्द से अनुमान और अनुमान से प्रत्यक्ष प्रबल है। इसलिए सचाई के पाने का सुगम मार्ग और सीधा मार्ग यही है, कि हम प्रत्यक्ष से परोक्ष का व्यक्त से अव्यक्त का पता लगाएं। सो आओ हम सब से पहले व्यक्त पर दृष्टि डालें।

व्यक्त पर एक दृष्टि — इस प्रत्यक्ष दृश्य जगत् में जितने पदार्थ हमें दिखलाई देते हैं, संक्षेप से उनके दो भेद हैं, एक जीव दूसरे अजीव। जिन में चेतनता इच्छा और चेष्टा पाई जाती है, वे जीव हैं, जीवों से भिन्न सब अजीव हैं। अजीवों में निरी क्रिया होती है, चेतनता इच्छा वा चेष्टा नहीं होती। हम जीव हैं, हम देखते हैं सुनते हैं, हमारे देह पर कहीं हाथ लगाओ, झट जान जाते हैं, शीत उष्ण सुख दुःख अनुभव करते हैं, यह हम में चेतनता है। जो वस्तुएं हमारे प्रतिकूल हों, उनको हम दूर करना चाहते हैं, और जो अनुकूल हों, उनको पाना चाहते हैं। जैसे सांप को दूर करना चाहते हैं, सेब को पाना चाहते हैं, यह चाहना हम में इच्छा है। इस इच्छा से प्रेरित होकर जो हम क्रिया करते हैं, वह चेष्टा है, जैसे सांप को मारते हैं, वा परे हटाते हैं वा उससे परे हटते हैं, और सेब को तोड़ते हैं, वा खरीदते हैं, यह हमारी चेष्टाएं हैं। ये चेतनता इच्छा और चेष्टा अजीवों में नहीं पाई जातीं। मट्टी का ढेला अजीव है। वह अपने निकट की वस्तुओं को नहीं जानता, उसे अपनी भी कोई खबर नहीं, उस पर फूल रक्खो, वा दहकता हुआ अङ्गारा उसके लिए एक समान है। उसे किसी प्रकार का भी कोई ज्ञान नहीं। अतएव उस में कोई चाह नहीं, न वह फूल को पाना चाहता है, न अङ्गारे को परे हटाना चाहता है, इसी लिए उस में कोई चेष्टा भी नहीं, न वह फूल को पाने का, न अङ्गारे को हटाने का यत्न करता है।

यह है जीव और अजीव में भेद। छोटे २ जन्तुओं से लेकर मनुष्यपर्यन्त देहधारी सब जीव हैं, इन से भिन्न पर्वत नदी

वायु अग्नि आदि सब अजीव हैं। इन में न कोई चेतनता है, न इच्छा है, न चेष्टा है। हां क्रिया इन में भी है। पृथिवी चलती है, वायु चलता है, नदियें बहती हैं, आग जलती है। पर इन में चेष्टा नहीं, निरी क्रिया है। क्रिया और चेष्टा में यह भेद है, कि क्रिया तो सामान्य हिलने चलने का नाम है, और चेष्टा उस क्रिया का नाम है, जो अपनी इच्छा के अधीन है। जैसे हम खाते पीते चलते फिरते हैं, यह काम अपनी इच्छा से करते हैं। अतएव ये हमारी चेष्टाएं हैं। पर नदियें अपनी इच्छा के अधीन नहीं चलतीं, वे पृथिवी के आकर्षण के अधीन चलती हैं। ढेला भी अपनी इच्छा के अधीन नहीं सरकता, वह हमारी ठोकर से सरकता है। यह भेद क्रिया और चेष्टा का है। क्रिया का लक्षण है—

चलनात्मकं कर्म

हिलना चलना क्रिया है। और चेष्टा का लक्षण है—

हिताहितप्राप्तिपरिहार्था क्रिया चेष्टा हित की प्राप्ति और अहित के दूर करने के लिए जो क्रिया है, वह चेष्टा है।

सो इस जगत् में एक तो यह निर्विवाद प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ है, कि इसमें जीव और अजीव = चेतन और जड़ दो प्रकार के पदार्थ हैं।

दूसरा हम यह देखते हैं, कि ये जो जीव हैं, ये जन्मते हैं और मरते हैं, और जितना काल जीते हैं, उसमें भी इनकी कई अवस्थाएं बदलती हैं, पहले बाल फिर युवा फिर वृद्ध होते हैं। अवस्था के अनुसार विचार और भाव भी बदलते हैं, बाल्या-

वस्था में हमारे विचार और भाव और होते हैं, यौवन में और होजाते हैं, और वृद्धावस्था में और ही होजाते हैं। और सच तो यह है, कि क्षण २ में हमारी अवस्था बदलती है, अभी एक पुरुष प्रसन्नवदन जारहा है, अभी किसी ने उसका अपमान कर दिया, देखो अवस्था बदल गई, वदन अब प्रसन्न नहीं, क्रोध चढ़ आया है, होंट फरकने और शरीर कांपने लग गया है। इस प्रकार जीवों की अवस्थाएं बदलती रहती हैं, यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। जीवों की तरह जड़ जगत् की अवस्थाओं को भी हम बदलता हुआ देखते रहते हैं। मेघ उत्पन्न होते हैं, और नष्ट होते हैं, कभी चुपचाप बरसते हैं, कभी गर्जते और कड़कते हैं। धारासार वर्षा आरम्भ हो जाती है, भूमि पर सर्वत्र पानी दौड़ने लगता है, नदियों में भयंकर बाढ़ आजाती है, सारा-दृश्य नया बन जाता है। हां यह सत्य है, कि पृथिवी का हम उत्पत्ति विनाश नहीं देखते, पर परिवर्तन इस में भी देखते रहते हैं, अग्नियों से, पानी की बाढ़ से, भूचाल से कई प्रकार के परिवर्तन होजाते हैं, और नीचे ऊपर की भूमि का परिवर्तन तो कृषक भी करते रहते हैं। **सो दूसरा इस जगत् में निर्विवाद प्रत्यक्ष सिद्ध यह अर्थ है, कि यह जगत एकरस नहीं रहता। इस में नई नई घटनाएं * होती रहती हैं।**

तीसरी बात हम यह देखते हैं, कि जब कभी किसी पदार्थ की अवस्था बदलती है, तो उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता

---

* अवस्थाओं का बदलना, उत्पत्ति और विनाश ये सब घटनाएं हैं।

है। एक पुरुष पहले चुपचाप खड़ा है, फिर हंसने लगता है, तुम पूछते हो, क्या बात है, वह अपनी हंसी का कारण बतलाता है। रोने लगता है, तो भी पूछते हो, तब भी वह अपने रोने का कारण बतलाता है। एक मकान को गिरा पड़ा देखते हो, पूछते हो, कैसे गिरा, वह उसके गिरने का कारण बतलाता है। तुम्हें निश्चय है, कि कोई भी घटना बिना कारण के नहीं होती, इसलिए तुम हरएक घटना का कारण पूछते हो। पूछने पर पता भी लग जाता है। कारण पर हमारा इतना निश्चय है, कि एक छोटा बच्चा भी जब रोता है, तो हम पूछते हैं, क्यों रोये? वह भी उसका कारण बतलाता है। और बच्चे को स्वयं भी कारण पर ऐसा ही निश्चय है, क्योंकि वह हरएक वस्तु का नाम और हरएक घटना का कारण पूछता है। किसी नए वृक्ष को देखकर उसका नाम पूछता है, और गिरे हुए को देखकर क्यों गिरा है, ऐसा पूछता है। सो तीसरा इस जगत् में **निर्विवाद प्रत्यक्ष सिद्ध यह नियम है, कि हरएक कार्य * का कारण अवश्य होता है॥**

सारांश यह, कि जीव अजीव भेद से दो प्रकार की सृष्टि, सृष्टि में उत्पत्ति विनाश और परिवर्तन, और इन सारी घटनाओं में कार्य कारण भाव का नियम, ये तीन सिद्धान्त निर्विवाद हैं।

अब जिस कार्यकारणभाव में कार्य और कारण दोनों प्रत्यक्ष होते हैं, वहां मतभेद नहीं होता, भूख किस से मिटती है, प्यास किससे बुझती है, इत्यादि विषयों में सब एक ही बात बोलते हैं, कि भोजन से और पानी से। ऐसा नहीं होता, कि कुछ लोग तो

* कार्य से अभिप्राय उत्पत्ति विनाश वा अवस्थाओं का बदलना है।

यह कहें, कि भूख दौड़ने से मिटती है, और प्यास कालेज जाने से, और कई यह कहें, कि भूख कुश्ती से मिटती है, और प्यास आतिशबाजी से। किन्तु जिन कार्यों के कारण परोक्ष होते हैं, मत-भेद भी वहीं होता है। भूचाल, ग्रहण, समुद्र में ज्वारभाटा का आना, इत्यादि के कारण प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए इन के कारण कल्पने में लोगों में मतभेद हुआ है। पर यह निश्चय जानना चाहिये कि कारण की जब तक कल्पना होती है, तभी तक मतभेद बना रहता है। जब परीक्षक जन प्रमाणों द्वारा पता लगाते हैं, तब वे वास्तविक कारण का पता लगा लेते हैं, इसीलिए अब परीक्षकों का इन विषयों में कोई मतभेद नहीं है। और यदि कोई ऐसा निश्चित प्रमाण न मिले, जिससे वास्तविक कारण का पता लग सके? तो भी सावधान परीक्षक यह जान लेते हैं, कि अभी तक इस के कारण का ठीक पता नहीं लगा है।

अस्तु, मनुष्य के हृदय में जो ये प्रश्न उठते हैं, कि मैं क्या हूं, क्या मैं इस शरीर के साथ उत्पन्न हुआ हूं और साथ ही नष्ट होजाऊंगा, वा मैं इस शरीर से पहले भी था, और पीछे भी रहूंगा, और यदि ऐसा है, तो मैं कहां से आया हूं, कहां जाऊंगा, मेरा इस शरीर से क्यों सम्बन्ध हुआ है, कौन मुझे यहां ले आया है, कौन हम पर शासन कर रहा है, हमारे लिए उसके क्या आदेश हैं, उन के पालन से क्या फल मिलता है और विरुद्ध जाने से क्या दण्ड मिलता है इत्यादि। और इसी प्रकार बाह्य जगत् के विषय में भी प्रश्न उत्पन्न होते हैं। कि यह जगत् क्या सदा से ऐसा ही चला आता है, वा किसी समय उत्पन्न हुआ है। यदि उत्पन्न हुआ है, तो किससे उत्पन्न हुआ है; किसने उत्पन्न किया है, इत्यादि। इन प्रश्नों से हम उस कारण वा उन

कारणों का पता लगाना चाहते हैं, जो इस दृश्यमान जगत् के मूलतत्त्व हैं। ये कारण परोक्ष हैं, इसी लिए इन में मतभेद हुआ है। किसी ने एक ही तत्त्व, किसी ने दो तत्त्व, और किसी ने तीन तत्त्व माने हैं। एक तत्त्व मानने वालों के ये भेद हैं।

(१) **जड़वाद**—अर्थात् जड़ ही एक मूल तत्त्व है, और सब इसी का पसारा है। जीव कोई अलग तत्त्व नहीं, इसी में से उत्पन्न होकर इसी में लीन होजाते हैं, और ईश्वर कोई है नहीं (२) **विज्ञानवाद**—विज्ञान वा चैतन्य ही एक मूलतत्त्व है, और सब इसी का पसारा है। बाह्य जगत् कल्पनामात्र है, और ईश्वर कोई है नहीं (३) **ब्रह्मवाद**—ब्रह्म ही एक मूल तत्त्व है, जीव अजीव सब उसके रचे हुए हैं।

दो मानने वालों के ये भेद हैं (१) प्रकृति और पुरुष दो मूलतत्त्व हैं, और सब इन का पसारा है। इसको **प्रधानवाद** कहते हैं (२) प्रकृति और ब्रह्म ही दो मूल तत्त्व हैं, और सब इन्हीं का पसारा है॥

तीन मानने वालों का एक ही भेद है, प्रकृति आत्मा और परमात्मा तीन मूल तत्त्व हैं, और सब इनका पसारा है। सो स्थूलदृष्टि से ये भेद हैं, सूक्ष्मदृष्टि से इनके अवान्तर भेद और भी हैं, जिनका सविस्तर वर्णन अपने २ प्रसंग में आता जाएगा।

जिस तरह अन्य परोक्ष कारणों का पता लगाने में प्रमाणों द्वारा परीक्षक जन एक ही निश्चित मत पर पहुंचे हैं, इसी तरह यहां भी प्रमाणों द्वारा परीक्षा करके एक ही निश्चित सिद्धान्त का हमें पता लगाना चाहिये। किन्तु परीक्षा का मार्ग हमें वह अवलम्बन करना चाहिये, जो बड़ा सरल और सीधा हो। ऐसा मार्ग यह है, कि हम किसी भी प्रचलित मत को दृष्टिगोचर

न रखकर पहले इस सृष्टि से अपने प्रश्न का उत्तर पूछें, क्योंकि सृष्टि सब जाति के लोगों को सदा एक ही उत्तर देती है, और वह उसका उत्तर अटल होता है । सृष्टि से उत्तर पाकर फिर धर्मपुस्तकों के उत्तरों का इस से मिलान करके देखें, तो हम सच्चे धर्म का पता लगा लेंगे । दूसरा यह, कि जब हम सृष्टि से उत्तर पूछते हैं, तो किसी भी मत के सारे सिद्धान्त एक साथ विचारने की आवश्यकता नहीं, पहले हम जड़ जगत् के सम्बन्ध में विचार करें, पीछे सचेतन जगत् के सम्बन्ध में, पीछे रचने वाले के सम्बन्ध में । पहले जब हम जड़ जगत् का विचार करें, तो जीव सम्बन्धी कोई प्रश्न न उठाएं, केवल जड़सम्बन्धी सिद्धान्तों का निश्चय करलें । जीववादियों का कोई सिद्धान्त यदि उन निश्चित सिद्धान्तों के साथ टक्कर भी खाता हो, तो भी उसको उस समय तक न उठाएं, जब तक जीव का ही प्रकरण न चले, क्योंकि यदि जड़ सम्बन्धी सच्चे सिद्धान्त पालिये हैं, तो वे जीव सम्बन्धी सिद्धान्तों के साथ टकराकर टूटेंगे नहीं, क्योंकि कोई भी सच्चा सिद्धान्त किसी दूसरे सच्चे सिद्धान्त को काटता नहीं है । इस लिए ऐसा करने में हमारा मार्ग बड़ा सरल हो जाएगा, और एक २ बात निश्चित होती जाएगी । सो आओ, हम पहले जड़ जगत् से परीक्षा आरम्भ करें ।

१—विषय—जगत् की उत्पत्ति का विचार ॥

संशय—यह जो दृश्यमान जगत् है, क्या यह अनादिकाल से ऐसा ही चला आता है, और अनन्तकाल तक ऐसा ही चला जायेगा, अथवा इसका कोई आदि और अन्त है ।

पूर्वपक्ष—जगत् जैसा अब है, ऐसा ही सदा से चला आरहा है, इस पृथिवी पर यह तो होता रहता है, कि आंधियों

से और नदी नालों से इधर की मट्टी उधर चली जाती है, कहीं गढे पड़जाते हैं, कई गढे भर जाते हैं; समुद्र में से नए टापू निकलते रहते हैं, स्थल समुद्र बनते रहते हैं। इस से पृथिवी के कलेवर में कोई भेद नहीं आता। और ये जो तृण गुल्म औषधि वनस्पति कीट पतंग पशु पक्षी और मनुष्य हैं, ये भी अपने २ बीज से इसी प्रकार जन्मते, जीते और मरते चले आते हैं। पृथिवी के मुख्य कलेवर का कोई आदि नहीं, और उस पर होने वाले कार्यों के क्रम का कोई आदि नहीं। पूर्व की ओर कोई ऐसा काल नहीं है, जब कि यह पृथिवी न रही हो, और ये घटनाएं उस पर न घटती रही हों, जो अब घट रही हैं। पृथिवी की भांति सूर्य चन्द्र और तारे भी अनादि काल से ऐसे ही चले आते हैं। और जैसे पूर्व की ओर इन का कोई आदि नहीं, इसी प्रकार उत्तर की ओर इन का कोई अन्त नहीं। अनन्त काल तक ऐसे ही बने रहेंगे।

उत्तरपक्ष—यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि पृथिवी निरवयव द्रव्य नहीं सावयव है, तभी तो हम उस में हल चलाते हैं, मट्टी उखाड़ कर गारा बनाते हैं, ईन्टें बनाते हैं, चूहे उस के पेट में बिलें निकालते हैं, और हम उस के पेट को खोद कर उस में से कुंएं निकालते हैं। ये सारी बातें सावयव में ही होसकती हैं; निरवयव में नहीं।

दूसरा हम यह नियम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि जो सावयव वस्तु होती है, वह आदि अन्त वाली होती है। जैसे घड़ा, ईंट, घर, वस्त्र इत्यादि। क्यों आदि अन्तवाली होती है? इसलिए, कि सावयव के जो अलग २ अवयव हैं, जब वे आपस में मिले हैं, तब वह वस्तु बनी है। पर वे अवयव तो उस मिलाप से

पहले थे, तभी उन का मिलाप हुआ ! सो उस मिलाप से पहले वह वस्तु न थी, इस लिए आदि वाली हुई और उस मिलाप के टूटने पर न रहेगी,इस लिए अन्तवाली हुई। जैसे वस्त्र तन्तुओं के मिलप से पहले न था, इस लिए आदि वाला हुआ, मिलाप के टूटने पर न रहेगा, इस लिए अन्तवाला हुआ। सो इस नियम का नियामक कार्यकारणभाव ठहरा । सावयव कार्य है, अवयव कारण हैं । अवयव जब पहले होंगे,तब वे आपस में मिलेंगे। और जब वे मिलेंगे, तब सावयव वस्तु उत्पन्न होगी, इसलिए सावयव का आदि वाला होना नियत ठहरा । और जब अवयव फिर अलग २ होंगे, तब वह वस्तु न रहेगी, इस लिए सावयव का अन्त वाला होना भी नियत ठहरा ।

अब ये दो बातें सिद्ध हो गईं, एक तो यह कि पृथिवी सावयव है, दूसरी यह कि सावयव वस्तु आदि अन्तवाली होती है । तब यह अनुमान प्रवृत्त हुआ ।

हरएक सावयव द्रव्य आदि अन्तवाला होता है ।
पृथिवी सावयव द्रव्य है ।
इसलिए पृथिवी आदि अन्तवाली है ।

यह सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त में अब परीक्षकों का मतभेद नहीं रहा । परीक्षक विद्वान् तो अब पृथिव्युत्पत्ति का काल और इतिहास निर्णय करने में लगे हुए हैं। अस्तु,जो अनुमान पृथिवी को आदि अन्तवाला सिद्ध करता है, उसी अनुमान से सूर्य्य चन्द्र तारे भी आदि अन्त वाले सिद्ध होते हैं । क्योंकि जब एक छोटासा ढेला भी कई द्रव्यों के मेल से बना होता है, तो इतने बड़े सूर्य तारे अनेक अवयवों से बने हैं, इस में संशय हो ही नहीं सकता । सो यह निर्विवाद सिद्धान्त है, कि यह जगत्

आदि अन्तवाला है। अनादि काल में एक समय आया, जब यह उत्पन्न होगया, उस से पहले नहीं था। और आगे अनन्त काल में एक समय आएगा, जब यह नष्ट होजाएगा। यह सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को जैनियों के सिवा सब धर्मवादी मानते हैं।

२—विषय—जगत के मूलतत्त्व का विचार।

संशय—जब यह निश्चय होगया, कि यह जगत अनादि अनन्त नहीं, एक समय था, जब इस की उत्पत्ति हुई, और एक समय आएगा,जब इसका नाश होजाएगा, तब आगे यह विचार उत्पन्न होता है, कि इसकी उत्पत्ति किससे हुई है, क्या अभाव से हुई है, वा कोई अन्य वस्तु है,और है तो वह क्या है ? और जब इसका नाश होगा अर्थात् प्रलय आएगी, तब क्या इसका अभाव होजाएगा, वा कुछ रहेगा, और रहेगा,तो क्या रहेगा ?

पूर्वपक्ष—अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, क्योंकि हम देखते हैं, कि बीज का नाश होने पर अंकुर उत्पन्न होता है, यदि बीज का नाश अंकुर का कारण न होता, तो बीज के ज्यों का त्यों बना रहने पर अंकुर उत्पन्न हो जाता। पर होता नहीं, इस से जानते हैं, कि बीज अंकुर का कारण नहीं, बीज का नाश ही अंकुर का कारण है, और नाश अभाव (ध्वंसाभाव) है। सो अभाव से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है। और अन्त भी सब का अभाव है। लकड़ी जलकर थोड़ीसी राख रह जाती है, और कुछ नहीं रहता। और घी तेल तो जितना डालो, सारे का अभाव होजाता है। और यदि कहो, कि अभाव नहीं होता, किन्तु उन के छोटे २ टुकड़े होकर

वायु में उड़ते रहते हैं, तो हम कहते हैं, कि उन टुकड़ों के भी टुकड़े होसकते हैं, सो टुकड़ों के टुकड़े होते २ अन्त में जाकर कुछ भी नहीं रहता, सब शून्य होजाता है। और यदि कहो, कि और सब के तो टुकड़े होजाते हैं, पर परमाणुओं के टुकड़े नहीं होसकते, क्योंकि वे नित्य हैं, तो उसका उत्तर यह है, कि परमाणुओं के नित्य होने में कोई प्रमाण नहीं। प्रत्यक्ष तो हो ही नहीं सकता, रहा अनुमान, अनुमान से उलटे अनित्य सिद्ध होते हैं, न कि नित्य। जैसा कि—

१—जो २ वस्तु स्पर्शवाली होती है, वह २ अनित्य होती है।
परमाणु स्पर्श वाले हैं।
इस लिए अनित्य हैं

२—जो २ वस्तु गुरुत्व वाली होती है,वह २ अनित्य होती है।
परमाणु गुरुत्ववाले हैं
इसलिए अनित्य हैं।

३—जो २ वस्तु आकार वाली होती है,वह २ अनित्य होती है।
परमाणु आकार वाले हैं
इसलिए अनित्य हैं।

४—जो २ वस्तु सावयव होती है, वह २ अनित्य होती है।
परमाणु सावयव हैं
इसलिए अनित्य हैं।

उपपादन—परमाणुओं में स्पर्श गुरुत्व और आकार तो परमाणुवादी मानते ही हैं। रहा सावयव होना, सो इस युक्ति से सिद्ध है, कि जब दो वा अधिक परमाणु आपस में मिलते हैं, तो यह तो नहीं होसकता, कि एक परमाणु दूसरे में बिल्कुल समा जाए, अलग रहे ही न, होगा यही, कि उसका एक भाग

तो दूसरे परमाणु के साथ मिल जाए, और दूसरा खाली रहे, तो इस से परमाणु के दो भाग सिद्ध होगए, और भाग कहो, टुकड़ा कहो, अवयव कहो, बात एक ही है। इसलिए परमाणु सावयव हैं। जब सावयव हैं, तो नाशवान् हुए। सो अन्त्य में शून्य शेष रहता है. यह मत स्थिर होगया।

उत्तर-पक्ष—जो कुछ हम इस जगत में देखते हैं, वह यह है, कि हरएक सद्वस्तु किसी दूसरी सद्वस्तु से उत्पन्न होती है, जैसे तन्तुओं से वस्त्र, रुई से तन्तु, कपास से रुई, बिनौलों से कपास। ऊपर जो बीज और अंकुर का दृष्टान्त दिया है, वहां भी भाव से ही भाव की उत्पत्ति है, अभाव से नहीं। बीज के जो अवयव हैं, वेही अंकुर के कारण हैं, बीज का नाश कारण नहीं। हां नाश हुए विना अंकुर इसलिए नहीं निकलता, कि यदि बीज के अवयव उसी तरह गठे रहें, तो वह बीज ही रहेगा, अंकुर कैसे हो जाएगा, अंकुर तो तभी होगा, जब बीज के अवयव उस पुरानी गठित को छोड़कर नई गठित में आएंगे। जैसे एक मिट्टी का गोला है, उसका जब घड़ा बनाना चाहते हैं, तो उस मिट्टी की पहली गठित को बदलकर एक नई गठित में ले आते हैं, वह घड़ा बन जाती है। क्या यहां तुम कह सकते हो, कि घड़ा मट्टी से नहीं, किन्तु मट्टी के नाश से, बना है। हां यह सच है, कि वह गोला अब नहीं रहा, गोले के नाश होने पर ही घड़ा बना है। यदि गोला बना रहता, तो घड़ा न होता। सो इस से यह सिद्ध होता है, कि द्रव्य ज्यों का त्यों रहता है, उसके आकार बदलते रहते हैं। जैसे सुनार एक सोने की डली लेकर उस का उस डली के आकार से अत्यन्त विलक्षण एक भूषण बना देता है, सुनार ने न कुछ उस में से निकाला है, न

कुछ जल में डाला है, किन्तु उस डली के अवयवों की पहली गठित को बदलकर एक नई रचना करदी है । ठीक इसी तरह बीज के अवयवों में एक नई गठित होगई है । बीज का अभाव नहीं हुआ । सो तत्त्व यह है, कि उत्पत्ति और विनाश द्रव्य का नहीं होता, उसके सन्निवेश (गठित विशेष) का होता है, द्रव्य सारे सन्निवेशों में ज्यों का त्यों बना रहता है । उस में न कुछ घटता है, न बढ़ता है । जब वस्तुएं जलती हैं, तो उनका भी रूपान्तर होजाता है, अभाव नहीं होता । जैसे पानी में मिसी घुल जाती है, तो दीखती नहीं, पर वह जल में है, उसका अभाव नहीं हुआ । इसी प्रकार जली हुई वस्तुएं अत्यन्त सूक्ष्म होकर वायु में अदृश्य होजाती हैं, पर अभाव उनका नहीं होता। यह असम्भव है, कि मूल द्रव्य का कोई अभाव कर सके, वा कोई नया द्रव्य उत्पन्न कर सके । वर्तमान समय में तो विज्ञान-शास्त्री प्रत्यक्ष करके देख चुके हैं, कि कोई भी मूलद्रव्य न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है । जो है, वह सदा से है, और सदा रहेगा, और जो नहीं है,वह कभी था नहीं,न होगा । स्कूलों और कालेजों के अध्यापक अपने विद्यार्थियों को बोतल में मोमबत्ती जलाकर प्रत्यक्ष करके दिखला देते हैं, कि जलने से मोमबत्ती में से कुछ कारबानिक ऐसिड गैस निकला है, और कुछ पानी निकला है,और वे उनको रोककर तोल के,तोल में भी पूरा दिखला देते हैं । सो विज्ञानशास्त्र में तो अब यह मन्तव्य एक अटल सिद्धान्त के तौर पर मान लिया गया है ।

सिद्धान्त—इसलिए इस जगत् की उत्पत्ति सद्वस्तु से ही हो सकती है, असत् से नहीं ।

(शंका) यह माना, कि स्थूल मोमबत्ती में से सूक्ष्म अवयव निकल आते हैं. पर ऐसा मानने में क्या हानि है, कि वे सूक्ष्म अवयव और भी सूक्ष्म सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम होते होते २ अन्ततः शून्य तक पहुंच जाते हैं।

(समाधान) ऐसा होना असम्भव है। क्योंकि अवयव तभी तक निकलते जाएंगे, जब तक वे अवयव भी दूसरे अवयवों से बने हुए होंगे। पर जब अन्तिम अवयव आजाएंगे, तो वे टिक जाएंगे। आगे जब अवयव ही नहीं, तो सूक्ष्म कैसे हों।

किञ्च–तुम्हारी बात मानकर भी ऐसा होना असम्भव है, भाव वस्तु को चाहे कितना ही सूक्ष्म करते जाओ, रहेगी तो भाव ही, शून्य कैसे होजाएगी। शून्य तो तभी होसकती है, जब उसका अभाव होजाय, न कि उसका टुकड़ा हो।

(शंका) अच्छा न हो शून्य, तौभी यह क्यों न मानलें, कि उनकी अवयवधारा कहीं बन्द नहीं होती, आगे २ अवयव निकलते ही जाते हैं।

(समाधान) देखो, पदार्थों में जो गुरुत्व होता है, वह उसके अवयवों के गुरुत्व का जोड़ होता है। जैसे एक २ छटांक के सोलह ढेलों का एक बर्तन बनाओ, तो उसका गुरुत्व एक सेर होगा। न न्यून होगा, न अधिक होगा। इस से यह सिद्ध हुआ, कि अवयवों का गुरुत्व ही वस्तुका गुरुत्व होता है। इस से यह सिद्ध है, कि जो मट्टी का ढेला एक छटांक है, उसके अवयव उस ढेले से पांच गुने होंगे, जो ढेला तोल में एक तोला है। पर तुम्हारे कथनानुसार जब अवयवधारा कहीं बन्द ही नहीं होगी, तो फिर राई का और हिमालय का तोल एक बराबर

क्यों न होगा, क्योंकि तुम्हारे मतानुसार अवयव अनगिनत ही राई के और अनगिनत ही हिमालय के हैं। फिर गुरुत्व का भेद क्यों हो। इसलिए अवयवधारा एक जगह जाकर टिक जाती है, यह अवश्य मानना पड़ता है। जहां जाकर टिकती है, वही अन्तिम अवयव निरवयव है। दूसरा यह भी, कि हरएक तारतम्य (एक दूसरे से बढ़ चढ़कर होना) अवश्य एक जगह टिकता है। जो एक दूसरे से बढ़ चढ़कर हैं, उन में कोई ऐसा भी अवश्य होगा, जिस से आगे बढ़कर कोई न हो, जैसे चन्द्र पृथिवी सूर्य और नक्षत्र स्थूलता में एक दूसरे से बढ़कर हैं, तो अवश्य इन में से एक ऐसा भी होगा, जिस में बड़ा और कोई गोला न हो। इसी प्रकार सूक्ष्मता के तारतम्य में भी अवश्य कोई ऐसा सूक्ष्म भी होना चाहिये, जिससे परे कोई सूक्ष्म न हो। जहां जाकर यह सूक्ष्मता टिकती है, वही इस स्थूल सूक्ष्म सृष्टिका मूलतत्त्व हैं। उन्हीं को परमाणु (परम+अणु=सब से छोटे अणु) कहते हैं।

(शंका) अच्छा, तो पूर्व जो अनित्यता के साधक अनुमान दिये हैं, उन का क्या समाधान है?

(समाधन)—वे अनुमान नहीं, अनुमानाभास हैं। पहले तीन अनुमानों में तो हेतु अप्रयोजक है। क्यों हम मानें, कि जो स्पर्श गुरुत्व वा आकार वाला होगा, वह अनित्य होगा। अनित्य उस को कहते हैं जिस का कभी नाश हो जाय, और द्रव्य का नाश क्या है, उस के जो अवयव आपस में मिले हुए हैं, वे अलग २ हो जाएं, जैसे ईन्टें अलग २ हो जाएं, तो दीवार का नाश, और तन्तु अलग २ हो जायं, तो वस्त्र का नाश होता है। सो दीवार के नाश में स्पर्श गुरुत्व वा आकार का कोई सम्बन्ध नहीं, दीवार इस लिए नहीं नष्ट हुई, कि उस में स्पर्श था वा गुरुत्व था, वा

आकार था, किन्तु इस लिए नष्ट हुई है, कि उस की ईन्टें अलग२ हो गई हैं। सो स्पर्श गुरुत्व और आकार न नाश के प्रयोजक हैं, न प्रतिबन्धक हैं। इस लिए ये नाश वा अनित्यता के साधक नहीं हो सकते। चौथे अनुमान में हेतु असिद्ध है। परमाणु निरवयव हैं, न कि सावयव, यह पुष्कल प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है। अब परमाणुओं के संयोग में जो परमाणु का एक भाग दूसरे के साथ मिलता है, इस एकभाग के अर्थ एक टुकड़ा नहीं, किन्तु एक ओर है। परमाणु जब गोल है, तो दो परामणु जब आपस में निकट २ होकर मिलेंगे, तो एक ओर से मिलेंगे, न कि चारों ओर से। निरवयव के यह अर्थ नहीं होते, कि उसका नीचा ऊपर दायां बायां कुछ नहीं, ऐसा तो शून्य ही हो सकता है, वा व्यापक हो सकता है, परिच्छिन्न नहीं। जो परिच्छिन्न होगा, वह नीचे ऊपर दाएं बाएं के परिच्छेद (हदबन्दी) में रहेगा, चाहे सावयव हो, वा निरवयव हो। परिच्छित्ति का सावयवता से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं जिससे परिच्छिन्न मान कर सावयव भी मानना पड़े।

सिद्धान्त—पो त्तयुक्तियों के अनुसार यह सिद्धान्त स्थिर होता है, कि इस जगत का उपादान कारण कोई सद्वस्तु है, और वह अनादि अनन्त है।

वैदिक सिद्धान्त—यही सिद्धान्त वेद का है। ऋग्वेद १०।१२९ में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार आरम्भ होता है।

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥ १॥

अर्थ—उस समय (आरम्भ में) न असत् था, न सत् था, न अन्तरिक्ष था, और न ही आकाशमण्डल (नक्षत्र आदि) जो और परे है। कौन आवरण था, कहां था, किस के आश्रय पर था, घना और अथाह जल कहां था ॥ १ ॥

व्याख्या—"उस समय न असत् था, न सत् था" इस का अर्थ यह तो हो नहीं सकता, कि उस समय न अभाव था, न भाव था। क्योंकि भाव और अभाव प्रतिद्वन्द्वी हैं, और दो प्रतिद्वन्द्वी न आप इकट्ठे होसकते हैं, न उनका अभाव इकट्ठा होसकता है। यह नहीं होसकता, कि एक ही पदार्थ जीव भी हो, और अजीव भी हो। और न ही यह होसकता है, कि जीव भी न हो, और अजीव भी न हो। यदि जीव नहीं, तो अवश्य अजीव होगा, और यदि अजीव नहीं, तो जीव अवश्य होगा। इसी प्रकार यदि अभाव नहीं था, तो भाव अवश्य था, और यदि भाव नहीं था, तो अभाव अवश्य था। यह नहीं होसकता, कि न अभाव हो, न भाव हो। इसलिए यहां अर्थ और ही विवक्षित है। वह यह है, कि असत् से तो यहां अभाव ही विवक्षित है, और सत् से व्यक्त जगत् अभिप्रेत है। अर्थात् आरम्भ में अभाव न था, और न ही यह व्यक्त जगत् था। इस से यह स्पष्ट कर दिया, कि यह जगत् न तो अभाव से भाव रूप में आया है, और न ही इसी रूप में अनादि है, किन्तु अव्यक्त रूप से व्यक्तरूप में आया है। आरम्भ में इसकी यह व्यक्तावस्था न थी, किन्तु अव्यक्तावस्था थी। जैसे मेघों में विद्युत् पहले अव्यक्तरूप में होती है, फिर उन में रगड़ होने से व्यक्त रूप में प्रकट होती है। इसी प्रकार यह जगत् उस समय अपने

कारण में अव्यक्तरूप में था, इसी लिए उस कारण को अव्यक्त कहते हैं, क्योंकि उस में यह जगत अव्यक्तरूप में रहता है।

'न ही सत था' इसी को आगे खोलकर बतलाया है, कि न अन्तरिक्ष था, न ऊपर का ज्योतिर्गण था। इस पृथिवी के चारों ओर जो वायु आदि का आवरण है, यह भी नहीं था, न इनके लिए कोई अलग स्थान निकला था, न इन के उत्पादक कार्य द्रव्य बने थे।

घना और अथाह जल से अभिप्राय उस अवस्था से है, जबकि कठिन होने से पहले पृथिवी तरल अवस्था में थी।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अन्ह आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥२॥

उस समय न मौत थी, न जीवन था, न दिन और रात का कोई झंडा था। (इस प्रकार नहीं २ कह कर जो था, वह बतलाते हैं) हां वह एक, वायु का सहारा न लेने वाला, जीवन स्वधा के साथ विद्यमान था, निःसंदेह उससे परे कुछ नहीं था॥२

व्याख्या—यहां 'वह एक' से अभिप्राय परब्रह्म है, जो उस समय एक जीवित शक्ति थी। जिस का जीवन अन्य जीवों के समान वायु पर निर्भर नहीं रखता।

इस प्रलय काल में ब्रह्म का सद्भाव कह कर प्रकृति का सद्भाव दिखलाते हैं 'स्वधया' वह ब्रह्म स्वधा के साथ था, सो ब्रह्म जगत का रचनेहार है, उसके पास जो रचने की सामग्री है, वही यहां स्वधा शब्द से कही है। स्वधा = अपने में धारने वाली। इस जगत को वह अपने गर्भ में लिये होती है, इस लिए उसको स्वधा कहा है।

(प्रश्न) यहां स्वधा का अर्थ शक्ति लेकर यह अर्थ भी बन सकता है, कि वह अपनी शक्ति से जीवित था।

(उत्तर) इसी से आगे मन्त्र ५ में कहा है "स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्" स्वधा वरे थी और प्रयत्न-वान् परे था। यहां यह स्पष्ट दिखजाय है. स्वधा और प्रयत्नवान् ये दोनों एक दूसरे से भिन्न अपनी २ स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं, इस से स्वधा ब्रह्म की निरी शक्ति विवक्षित नहीं, किन्तु जगत् रचने की सामग्री विवक्षित है। सायणाचार्य ने भी यहां स्वधा का अर्थ माया लिया है। और माया को रचने की सामग्री माना गया है। स्वधा का दूसरा अर्थ अन्न भी इसी से प्रसिद्ध हुआ है, कि स्वधा अर्थात् प्रकृति भोग्य है, और पुरुष भोगता है। स्वधा शब्द निरा स्वशक्ति का बोधक नहीं, किन्तु जगत् रचने की सामग्री का बोधक है, यह अगले मन्त्र से भी स्पष्ट है। जैसा कि—

तम आसीत् तमसा गूढ मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ॥३॥

अर्थ—आरम्भ में अन्धेरे से ढका हुआ अन्धेरा था, बिना किसी अलग २ चिन्ह के यह समस्त जगत् उस समय एक-रूप था।

व्याख्या—यहां मूल में 'तम' शब्द है, जिस का अर्थ अन्धेरा किया है। आशय यह है, कि जैसे अन्धेरे में सब कुछ एकरूप हो जाता है, इसी प्रकार उस समय सब कुछ एक रूप था। पर इस का अभाव नहीं था, किन्तु यह समस्त जगत् जो अब वर्तमान है, उस समय सलिल (एक रूप) था। पूर्व जैसे

स्वधा शब्द प्रकृति के लिए आया है,वैसे यहां यह सलिल शब्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसाकि अथर्व वेद में आया है–

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये
तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ केच देवाः
वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः॥

(१०।७।३८)

एक पूजनीय बड़ी सत्ता इस भुवन के मध्य में स्थित है, जो ज्ञान में सब से आगे है, प्रकृति(सलिल)से परे है, जितने ये देवता हैं, सब उसी के आश्रित हैं, वह वृक्ष के ऐसे डाल की भांति है, जिसके चारों ओर डालियां हों। (अर्थात् बड़े डाल की भांति सब को थामे हुए भी है, और जीवन भी देरहा है)।

सलिल नाम जल का भी है। वस्तुतः सलिल उस अवस्था को कहते हैं,जिस में सब कुछ इकट्ठा गड़ मड़ हुआ हो, अलग२ कुछ प्रतीत न हो। जल भी एकरूप दीखता है, थल की भांति उस में भेद दिखलाई नहीं देते, इसलिए उसको सलिल कहते हैं। और,प्रकृति अवस्था में भी पृथिवी सूर्य आदि भेद दिखलाई नहीं देते, किन्तु सब उस समय एकरूप होकर रहते हैं,इसलिए सलिल कहा है।सलिल से यहां इस दृश्य जगत् की आद्यावस्था ही अभिप्रेत है,इस में सभी टीकाकार सहमत हैं। सो इस प्रकार वेद ने असत् से उत्पत्ति का साक्षात् निषेध करके साक्षात् शब्दों में ही सद्रूप उपादान से जगत् की उत्पत्ति बतलाई, जिसका नाम स्वधा और सलिल रक्खा।

(शंका) जैसे यहां साक्षात् असत् का निषेध किया है, वैसे अन्यत्र वेद वचनों में साक्षात् असत् से उत्पत्ति बतलाई है। जैसे—

ब्रह्मणस्पतिरेता संकर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सद जायत॥
(ऋग्वेद १०।७२।२)

ब्रह्मणस्पति ने इनको लुहार की न्याईं धौंका, तब देवताओं के भी पहले होने वाले युग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ।

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सद जायत।
(ऋग्वेद १०।७२।३)

देवताओं के प्रथम युग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ।
इनका क्या समाधान होगा?

समाधान—यहां असत् से अभाव अभिप्रेत नहीं, क्योंकि एक तो जब अभाव का साक्षात् निषेध कर दिया, तो अब उसके विरुद्ध अभाव से भाव की उत्पत्ति कैसे कोई बुद्धिमान् कह सकता है। दूसरा, यहां ही स्पष्ट कहा है, कि "ब्रह्मणस्पति ने पहले लुहार की न्याईं इनको धौंका" इस पर हम पूछते हैं, किनको धौंका, जिनके धौंकने पर असत् से सत् उत्पन्न हुआ। 'इन को' से अभिप्राय यदि ये सूर्य्य चन्द्र आदि लो, तो ये तो उस समय थे ही नहीं, फिर इनको धौंकना कैसा? इसलिए जो द्रव्य उस समय धौंका गया, वह विद्यमान था, तब यहां असत् से अभाव अर्थ कदाचित् भी विवक्षित नहीं होसकता।

प्रश्न—तो फिर यहां क्या अर्थ विवक्षित है। उत्तर—सत् से व्यक्त और असत् से अव्यक्त विवक्षित है। अर्थात् परमात्मा ने पहले उस अव्यक्त को खूब गर्म किया, तब उस अव्यक्त से

यह व्यक्त उत्पन्न हुआ। (प्रश्न)–वह धौंका जाने वाला यदि अव्यक्त अभिप्रेत है, तो फिर "इनको" यह प्रत्यक्ष निर्देश और बहुवचन दोनों नहीं घट सकते, किन्तु "तत्" ऐसा परोक्ष निर्देश और एक वचन होना चाहिये। (उत्तर)–"इनको" इस प्रत्यक्ष निर्देश और बहुवचन से सूर्य चन्द्र आदि ही विवक्षित हैं, किन्तु वचनशैली इस प्रकार की है, जैसे लोहार की दुकान पर तलवारें और छुरियें बनी हुई देखकर कोई कहे, कि इन को पहले लोहार ने खूब धौंका था, तब ये इस रूप में आईं। यहां 'इनको' शब्द से निर्दिष्ट तो तलवारें और छुरियें ही हैं, जो इस समय प्रत्यक्ष हैं, और बहुत हैं। तथापि सत्य यही है, कि लोहार ने जिस वस्तु को धौंका था, वे तलवारें और छुरियें न थीं किन्तु लोहा था। सो यह एक कहने की शैली है, और कुछ नहीं। इस शैली का हेतु यह है। कि वास्तव में वे तलवारें और छुरियें उस लोहे से कोई भिन्न वस्तु नहीं, वही लोहा, जो कल धौंका गया था, वही आज ये तलवारें और छुरियें हैं, इसलिए 'इनको धौंका था' यह वचन संगत है।

कहने की ऐसी शैली क्यों बनी? इसी लिए, कि कार्य कारण से कोई भिन्न वस्तु नहीं। तलवारें लोहे से भिन्न कुछ नहीं, लोहा ही है। सो वेद में 'ब्रह्मणस्पति ने इनको लोहार की न्याईं धौंका' इस कथन से यह बोधन किया है, कि यह जगत् उस मूल प्रकृति से अभिन्न है। वह एकरूप मूलप्रकृति ही नाना सन्निवेशों से नानारूप बन गई है। अतएव यहां (१०।७२। २–३में) असत् का अर्थ कथञ्चित् अभाव नहीं हो सकता, अव्यक्त ही है। यही अर्थ सब ने यहां लिया है। इसलिए इन वेदवचनों

का पूर्व कहे वचनों से कोई विरोध नहीं । अतएव वेद एकही स्थिर निश्चय पर पहुंचाता है, कि जगत् का मूल कारण सद्वस्तु है, असत् नहीं ॥

वेद की पुष्टि में अन्य शास्त्रोंके प्रमाण — जगत् का मूल कारण सत् है, असत् नहीं उपनिषदों में इस सिद्धान्त को बड़ा स्पष्ट करके बतलाया है ।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहु रसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तस्मादसतः सज्जायेत ॥१॥ कुतस्तुखलु सोम्यैव ७ स्यादिति होवाच 'कथमसतः सज्जायेतेति सत् त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २ ॥

(छान्दो० उप० ६ । २ । १-२)

(उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश देते हुए कहते हैं) हे सोम्य यह (व्यक्त जगत्) पहले केवल सत् था, बस वही था, दूसरा कोई न था । इस पर कई ऐसा कहते हैं, कि असत् ही यह पहले था, बस वही था, और कुछ न था । ऐसा मानने से यह मानना पड़ेगा, कि असत् से सत् होजाता है ॥१॥ परन्तु (उस ने कहा) हे सोम्य यह कैसे होसकता है, 'जो नहीं है, उस से 'है' कैसे होजायगा' अतएव हे सोम्य सत् ही यह पहले था, बस वही था, और कुछ नहीं था ॥२॥ 'जो नहीं है, उस से है कैसे होजायगा' यह आक्षेप इस आशय का द्योतक है, कि सम्भव ही नहीं, कि असत् से सत् की उत्पत्ति होजाए ।

(शंका) उपनिषदों में असत् से उत्पत्ति भी कही है जैसा कि—

असदेवेदमग्र आसीत् (छान्दो० उप० ३। १९)

असत् ही यह पहले था।

असद्वा इदमग्र आसीत (तै० उप० २। ७। १)

आरम्भ में निःसंदेह यह असत् था। इन वचनों का क्या समाधान है।

(समाधान) यहां भी वही समाधान है, जो पूर्व '**असतः सद जायत**' इस वेदवचन का दिया है। अर्थात् असत् से अभिप्राय अव्यक्त से है। छान्दोग्य में इस से आगे कहा है— '**तत् सदासीत्, तत् समभवत्, तदाण्डं निरवर्तत**'= वह सत् (व्यक्त) होगया, वह घना होगया, तब वह एक अंडा बन गया। यहां स्पष्ट आगे उसी असत् का इस प्रकार परिणाम बतलाया है। यदि असत् से अभाव विवक्षित हो, तो आगे यह उसका परिणाम नहीं बन सकता। इसलिए असत् से अव्यक्त ही अभिप्रेत है। तैत्तिरीय में भी 'असद्वा इदमग्र आसीत' से आगे कहा है '**ततो वै सदजायत, तदात्मानं स्वयमकुरुत**'=उस से सत् (व्यक्त) हुआ। उस ने (असत् ने) स्वयं अपने आपको बनाया। यहां भी यदि असत् से अभिप्राय अभाव होता, तो फिर उस के विषय में यह वाक्यशेष नहीं बन सकता, क्योंकि जब था ही कुछ नहीं, तो 'उस से' 'उसने' 'अपने को' ये सब असम्बद्ध बन जाते हैं।

किञ्च—जिस छान्दोग्य में 'असत् से सत् की उत्पत्ति' का प्रबल खण्डन किया है, क्या यह हो सकता है, कि उसी में दूसरे स्थान पर अभाव से उत्पत्ति बतलाई हो, इसलिए असत् का अर्थ वहां अव्यक्त ही अभिप्रेत है।

वेदान्त के प्रमाण—वेदान्त दर्शन में जो विचार हैं, उनका आधार वेद और उपनिषद् के वचन ही हैं। सो प्रकृति विषय में वेद का सिद्धान्त और श्रुति वचनों की जो व्यवस्था **भगवान् वेद व्यास** ने की है, उसका जानना बहुत ही आवश्यक है, इस से यह भी ज्ञात होजायगा, कि जो प्रश्न हमारे सामने अब उपस्थित हो रहे हैं, इन पर हमारे पुर्वजों ने पहले ही बड़ा सूक्ष्म विचार कर रक्खा है—

वेदान्त दर्शन अध्याय २ सूत्र १४ से २० तक कार्य-कारणभाव के बोधक श्रुतिवाक्यों की इस प्रकार व्यवस्था की है—

तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

उससे (=कारण से) (कार्य का) भेद नहीं है, क्योंकि आरम्भण शब्द आदि कहे हैं।

व्याख्या—कार्य अपने उपादान कारण से भिन्न वस्तु नहीं होता, इस में प्रमाण आरम्भण शब्द आदि हैं। अर्थात् छान्दो० उप० ६।१।१ में मूलतत्त्व का प्रकरण चला कर जो यह कहा है, '**यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्व वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**'=हे सोम्य! जैसे अकेला मिट्टी का गोला जान लेने से मिट्टी का बना सब कुछ ज्ञात होजाए, क्योंकि रूप और नाम निरा वाणी का सहारा है (अर्थात् निरा कहने में अलग है। मट्टी के गोले को हम घड़ा नहीं कह सकते, न उसका रूप (आकार) घड़े का होता है, बस नाम रूप का ही मट्टी और घड़े में भेद है)

पर वस्तुतः सत्य तो यही है, कि है वह मिट्टी ही। इस दृष्टान्त से स्पष्ट कर दिया है, कि जो प्रकृतिद्रव्य है, विकृति में भी द्रव्य तो वही है, किन्तु अवयवों का संयोग नए ढंग पर हो जाने से रूप (आकार) बदल जाता है, और इस भिन्न रूप (आकार) का दूसरे रूपोंसे भेद दिखलाने के लिए नया नाम रक्खा जाता है। बस इस नाम रूप के भेद से अतिरिक्त कार्य-कारण का कोई भेद नहीं।

आदि शब्द से "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत" (बृह० उप० १।४।७) यह जगत् उस समय अव्याकृत था, वह नामरूप से व्याकृत हुआ। इत्यादि श्रुतियों का ग्रहण करना।

भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

और होने पर उपलब्धि से।

व्याख्या—कारण के होने पर ही कार्य की उपलब्धि होती है, मट्टी हो, तभी घड़ा बनता है, तन्तुएं हों, तभी वस्त्र बनता है, लोहा हो, तभी शस्त्र बनते हैं, इस से जानते हैं, कि कार्य कारण से अलग नहीं, यदि अलग होता, तो जैसे मट्टी के न होने पर भी वस्त्र बन जाता है, वैसे मट्टी के न होने पर घड़ा भी मिल जाता, पर ऐसा नहीं होता, इस से निश्चित है, कि वस्त्र जैसे मट्टी से एक अलग वस्तु है, वैसे घड़ा मट्टी से कोई अलग वस्तु नहीं है।

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

और विद्यमान होने से कार्य के।

व्याख्या—सदेव सोम्येदमग्र आसीत्—हे सोम्य यह

(जगत) पहले सत ही था (छान्दोग्य उप० ६।२।१) इत्यादि में उत्पत्ति से पूर्व जगत को सत कहने से, सत से उसका अभेद सिद्ध किया है, अर्थात उत्पत्ति से पहले भी कार्य अपने कारण में विद्यमान होता है।

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्य शेषात् ॥ १७ ॥

असत के कहने से (अभेद) नहीं, यदि ऐसा (कहो) तो नहीं, क्योंकि वहां दूसरे धर्म से (निर्देश किया है) जैसा कि वाक्यशेष से (ज्ञात होता है)।

व्याख्या—'असदेवेद मग्र आसीत' (छां० उप ३।१९) असद्वा इदमग्र आसीत (तै० २।७।१) इत्यादि में उत्पत्ति से पहले कार्य को असत भी तो कहा है, फिर असत से उत्पत्ति क्यों न मानें, यदि ऐसा कहो, तो यह यथार्थ नहीं, क्योंकि वहां सत को ही दूसरे धर्म अर्थात अव्यक्त नाम रूप वाला होने कारण असत कहा है। जैसा कि वाक्य शेष से ज्ञात होता छान्दोग्य में तो उसके आगे वाक्य है 'तत्सदासीत' वह सत हो गया। और तैत्तिरीय में उसके आगे है 'तदात्मनꣳस्वयमकुरुत' उस अपने आप का स्वयं बनाया। इस प्रकार व्यक्त को उसका परिणाम वर्णन करने से स्पष्ट है, कि वह असत अभाव नहीं, अव्यक्त है।

युक्तेः शब्दान्तराच्च।१८।

युक्ति से और शब्दान्तर से।

व्याख्या—युक्ति से भी कार्य का कारण का अभेद सिद्ध

होता है, युक्ति यह है, कि जो घड़ा बनाना चाहता है, वह मट्टी को ही ग्रहण करता है, और जो दही चाहता है, वह दूध को ही ग्रहण करता है। ऐसा कभी नहीं होता, कि घड़े की इच्छा वाला दूध को और दही की इच्छा वाला मट्टी को ग्रहण करे। यदि दही का अभाव जैसा मट्टी में है, वैसा दूध में होता, तो वह दूध से उत्पन्न होने की तरह मट्टी से भी उत्पन्न होजाता, पर ऐसा नहीं होता, इस से स्पष्ट है, कि दूध में पहले ही दही है, वही व्यक्त होजाता है, जैसे तिलों से तेल।

"शब्दान्तर से" यदि निरी असत् से उत्पत्ति कही होती, तब तो असत् शब्द के अर्थमें संदेह भी होता, कि यहां कदाचित् अभाव अर्थ में न हो। पर जब 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस शब्दान्तर से स्पष्ट कर दिया, कि मूल कारण सत् है, और 'कथमसतः सज्जायेत' इस प्रकार असत् से उत्पत्ति की संभावना ही मिटा दी, तब तो असत् का अर्थ अव्यक्त होने में बाधा ही क्या रही।

पटवच्च । १९ ।

व्याख्या—जैसे वस्त्र तन्तुओं से कोई अलग वस्तु नहीं होता, तन्तुरूप ही होता है, इसी प्रकार सारे कार्य कारणरूप ही होते हैं।

यथा च प्राणादि ।२०।

व्याख्या—अथवा जैसे प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान ये वायु का कार्य हैं, और वायु रूप ही हैं, इसी प्रकार सारे कार्य कारणरूप ही होते हैं।

इस प्रकार वेदान्त में कार्यकारण का अभेद दिखला कर सत्कार्यवाद की पुष्टि की है । सत्कार्यवाद का अर्थ यह है, कि जो मूल में है, वही अभिव्यक्त होकर कार्य कहलाता है, कार्य में कोई नया गुण नहीं आजाता । और इसी अर्थ में उपनिषद् वाक्यों का समन्वय करके दिखला दिया, कि वैदिक सिद्धान्त में इस व्यक्त का मूलतत्त्व सद्वस्तु है ।

सांख्य का सिद्धान्त—सांख्याचार्यों का कथन है 'नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानम्' न असत् का स्वरूप लाभ होता है, न सत् का स्वरूपहान होता है, युक्तियां जो वेदान्त में दी हैं, वही सब सांख्य को सम्मत हैं, क्योंकि सांख्य योग और वेदान्त तीनों सत्कार्य वादी हैं ।

वैशेषिक, न्याय और मीमांसा का सिद्धान्त—इन तीनों दर्शनों का भी यही सिद्धान्त है, कि जगत् का कारण अभाव नहीं, सद्वस्तु है । अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती ॥

गीता का सिद्धान्त—गीता भी सत् से ही उत्पत्ति के सिद्धान्त को बड़े बल से पुष्ट करती है, जैसा कि:—

नासतो विद्यतेभावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः(गीता२।१६)

तत्त्व दर्शियों ने इन दो बातों का निर्णय कर दिया है, कि जो अभाव है, उस का भाव कभी नहीं होता, और जो विद्यमान है, उसका अभाव कभी नहीं होता ।

इसप्रकार सारे आर्य शास्त्रों का यही एक निश्चित सिद्धान्त है, कि इस जगत् का उपादान सद्वस्तु है, असत् नहीं ।

शंका—यद्यपि जगत का मूलकारण सत है, अभाव नहीं इस विषय में सारे शास्त्र सहमत हैं, तथापि वह सद्वस्तु क्या है, इस अंश में तो भेद पाया जाता है। वैशेषिक, न्याय और सांख्य वाले तो मानते हैं, कि असंख्य परमाणुओं से इस जगत की उत्पत्ति हुई है, सांख्य योग वाले मानते हैं, कि त्रिगुणात्मक प्रकृति से, और वेदान्ती मानते हैं, कि माया से उत्पत्ति हुई है। तथा सत्कार्यवाद असत्कार्यवाद, आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद आदि मन्तव्यों में भी भेद हैं, इसका समाधान क्या है।

समाधान—इन सब विषयों की विवेचना और निर्णय परमात्म निरूपण के अनन्तर सरल मार्ग से होसकता है, इसलिए परमात्मा का निरूपण करके, पीछे इन पर पूरा २ विचार करेंगे। यहां इतना ही अभिप्रेत है, कि इस जगत की उत्पत्ति सद्वस्तु से ही हुई है, असत से नहीं, इस विषय में सारे आर्यशास्त्र सहमत हैं। सो यही निश्चित वैदिक सिद्धान्त वा आर्य सिद्धान्त है।

ईसाइयों और मुसलमानों का सिद्धान्त—ईसाई और मुसलमान मानते हैं, कि जगत किसी सद्वस्तु से उत्पन्न नहीं हुआ, वह अभाव से ही उत्पन्न हुआ है। क्योंकि इसके उत्पन्न करने वाला परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है। उसको किसी वस्तु के बनाने में हमारी तरह किसी मूलद्रव्य की आवश्यकता नहीं होती, वह अभाव से भाव और भाव से अभाव कर सकता है। सो उसने अपनी अप्रतिहतशक्ति के द्वारा शून्य से ही इस जगत को उत्पन्न किया है, यदि ईश्वर

भी हमारी तरह बनाने के लिये द्रव्य का अर्थी है, तो हम से उसकी क्या विशेषता हुई ।

समीक्षा–ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर विचार ईश्वर के प्रकरण में होगा, वहां हम दिखलाएंगे, कि सर्वशक्तिमान् का ऐसा अमर्यादित अर्थ नहीं, कि उसके लिए अनहोनी बात कोई है ही नहीं । ऐसा मानने में कई दोष आते हैं । अतएव उसकी सर्वशक्तिमत्ता एक मर्यादा के अन्दर ही मानी जासकती है । उसकी सर्वशक्तिमत्ता का अनहोनी को होनी और होनी को अनहोनी बनाने के साथ कोई सम्बन्ध नहीं । अस्तु, यहां इतना जानना आवश्यक है, कि जब सृष्टिनियम यह है, कि 'नासत आत्म लाभः, न सत आत्महानम्' तब इसके विरुद्ध कोई और नियम होही नहीं सकता । अतएव ईसाई और मुसल्मान यदि इसके विरुद्ध कहें, तो उनका यह कथन सृष्टि-नियम के विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं हो सकता ।

पर पहले हम यह देखना चाहते हैं, कि ईसाई और मुसल्मानों ने जो ऐसा मान रक्खा है, क्या इस के लिए उनके पास कोई प्रबल प्रमाण भी है । इसकी खोज करने से हम तो इसी परिणाम पर पहुंचे है, कि वे पीढियों से अपना धार्मिक मन्तव्य ऐसा कहते आए हैं, इसलिए अब भी ऐसा ही कहते हैं, अन्यथा उनके धर्मपुस्तकों में तो कोई इसके लिए प्रमाण नहीं है ।

बाइबल में आदम की उत्पत्ति इस तरह लिखी है 'एक समय यहोवा परमेश्वर ने आदम को भूमि की मिट्टी से रचा, और उसके नथनों में जीवन युक्त श्वास फूंक दिया । इसी रीति आदम जीता प्राणी हुआ (उत्पत्ति २।७)

यहां रचने वाला परमेश्वर है । तो भी यह स्पष्ट है, कि

उसने आदम को मिट्टी से रचा, न कि अभाव से, और जीवन भी उसमें फूंका न कि अभाव से उत्पन्न कर दिया। इससे स्पष्ट है, कि जगत रचने के लिए परमेश्वर के पास द्रव्य सामग्री का होना बाइबल को अभिमत है।

यहां प्रश्न हो सकता है, कि यद्यपि आदम की उत्पत्ति में सामग्री अलग बतलाई है, पर पृथिवी आदि की उत्पत्ति में कोई सामग्री नहीं बतलाई, जैसे 'आदि में परमेश्वर ने आकाशों, और पृथिवी को सिरजा। २। और पृथिवी योंही सुनसान पड़ी थी और गहरे जल के ऊपर अन्धियारा था, और परमेश्वर का आत्मा जल के ऊपर मण्डलाता था।३। तब परमेश्वर ने कहा, उजियाला होवे, सो उजियाला होगया।४।" इत्यादि।

यहां आकाश पृथिवी आदि की अभाव से उत्पत्ति कही है, अतएव 'उजियाला होवे,' इस वचनमात्र से उजियाले की उत्पत्ति कही है, न कि सामग्री से। सो पूर्वापर देखने से सिद्धान्त यह निकलता है, कि पहले पृथिवी आदि की उत्पत्ति तो बिना किसी सामग्री के ईश्वर के वचनमात्र से होती है। फिर जब यह सामग्री उत्पन्न होजाती है, तो आगे ओषधि वनस्पति पशु पक्षी मनुष्यों की सृष्टि इस सामग्री से होती है, क्योंकि अब सामग्री भी हो गई है।

इसका उत्तर यह है, कि यहां केवल यही कहा है, कि "परमेश्वर ने आकाश और पृथिवी को सिरजा" इस वचन का अभिप्राय तो इतने में ही है, कि बनाने वाला परमेश्वर है, उसने बनाया किस से, यह विचार यहां उठाया ही नहीं गया। अतएव यह प्रमाण किसी भी पक्ष का न साधक है, न बाधक है। और जो परमेश्वर के वचनमात्र से उजियाले का होना कहा

है। वहां भी मात्रपद है नहीं। वह वचन इस प्रकार है "तब परमेश्वर ने कहा, उजियाला होवे, सो उजियाला होगया" इससे यही अभिप्राय निकल सकता है, कि सृष्टि परमेश्वर की इच्छा के अनुसार हुई है, अर्थात् जैसी २ उसकी इच्छा वा आज्ञा होती गई, वैसी २ उत्पत्ति होती गई, वह उत्पत्ति किससे हुई भाव से वा अभाव से, इस अंश में यह वचन उदासीन है। हां यदि कोई झलक आसकती है, तो भाव से उत्पत्ति की आसकती है, कि परमेश्वर ने जिसको आज्ञा दी, वह वस्तु पहले होनी चाहिये, अन्यथा आज्ञा किस को दी जाए। इस लिए उजियाले की सामग्री थी, जिसको परमेश्वर ने आज्ञा दी कि वह उजियाले का रूप धारण करे। किञ्च 'गहरे जल के ऊपर अन्धियारा था,' इस वचन में जो जल कहा है, उसकी उत्पत्ति नहीं कही। यही आदि सामग्री अभिप्रेत हो सकती है। सर्वथा स्फुट रूप में यह प्रतिज्ञा कहीं नहीं पाई जाती, कि परमेश्वर ने शून्य से इस जगत् को रचा है।

कुरान में भी बाईबल की भांति कहीं २ तो स्पष्ट ही प्रकृति द्रव्य का वर्णन पाया जाता है, जैसे सूरत आल इमरान में है 'वही है जो मां के पेट में जैसी चाहता है, तुम लोगों की सूरतें बनाता है" यहां स्पष्ट सूरतें बनाने वाला कहा है, न कि अभाव से उत्पन्न करने वाला। और जो इसी सूरत में आगे चल कर यह आया है, कि 'जब वह किसी काम का करना ठान लेता है, तो बस उसे फरमा देता है "कुनफकून' कि हो और वह होजाता है" इससे भी अभाव से भाव की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती, अपितु भाव से ही भाव की उत्पत्ति सिद्ध होती है, क्योंकि जिस वस्तु को 'हो' यह आज्ञा दीगई है,

वह वस्तु उस आज्ञा से पूर्व विद्यमान होनी चाहिये, अन्यथा 'हो यह कहना असम्बद्ध होगा। जो आशय हमने लिया है, इसी सूरत में आगे चलकर स्वयं क़ुरान इसकी पुष्टि कर देता है जैसा कि 'मिट्टी से आदम को बना कर उसको हुक्म दिया 'कुनफ़यकून' किवन, और वह बन गया" यहां 'कुनफ़यकून' से पहले आदम का पुतला बनाने वाली मिट्टी का वर्णन आ-चुका है। इससे स्पष्ट है, कि 'कुनफ़यकून' यह वचन शून्य को लक्ष्य करके नहीं, किन्तु सद्वस्तु को लक्ष्य करके बोला गया है। सूरत अल अंम्बियाह में आया है 'क्या जो लोग का-फ़िर हैं, उन्होंने इस बात पर दृष्टि नहीं डाली, कि द्यौ और भूमि दोनों का एक पिंडा (गोलमोल ढेर) सा था, तो हमने द्यौ और भूमि को अलग किया, और पानी से समस्तप्राण-धारी जीव बनाए, तो क्या इसपर भी लोग ईमान नहीं लाते और हम ही ने भूमि में भारी बोझल पर्वत रक्खे, ताकि भूमि लोगों को लेकर झुक न पड़े, और हमही ने उसमें चौड़े २ रस्ते बनाए; ताकि लोग अपने २ अभीष्ट स्थान को जा पहुंचें और हम ही ने द्यौ की सुरक्षित छत बनाई, और लोग हैं, कि दिव्य चिन्हों की तनिक परवा नहीं करते," यहां द्यौ और भूमि की उत्पत्ति एक सत्कारण से और जीवित शरीरों की उत्पत्ति एक सत्कारण से बतलाते हुए ईश्वर को विश्वकर्मा (पूर्ण ऐञ-नीयर) के रूप में वर्णन किया है, और आगे पर्वतों की स्थिति और खुले मार्गों की बनावट से उसी को अधिक स्पष्ट करदिया है।

सूरत इन्आम के आरम्भ में कहा है 'वही है, जिसने तुम लोगों को मिट्टी से पैदा किया," और फिर आगे चलकर कहा है

'खुदा दाने और गुठली का फाड़ने वाला है, जिन्दे को मुरदे से निकालता है, और जिन्दे से मुरदे को निकालने वाला है' इत्यादि स्पष्ट प्रमाण इस बात के हैं, कि ईश्वर एक वस्तु से दूसरी वस्तु उत्पन्न करता है, न कि शून्य से किसी वस्तु को उत्पन्न करता है। प्रश्न उत्पन्न होता है, कि यद्यपि क़ुरान शरीफ़ में ईश्वर को एक वस्तु से दूसरी वस्तु बनाने वाला और सूरतें बनाने वाला बहुत स्थलों पर कहा है, तथापि 'खलक कुल्ल शय्यन' वा 'खालिक कुल्ल शय्यन' (सूरत इनआम रकूअ १२, १३) उसी ने सारी चीजों को पैदा किया है'वही सारी चीजों का पैदा करने वाला है" इत्यादि वचनों में जब हरचीज का पैदा करने वाला कहा है, तो हर चीज में तो परमाणु भी आगए तब क़ुरान शरीफ़ का सिद्धान्त ऐसा मानना उचित होगा, कि पहले परमेश्वर परमाणुओं को तो शून्य से पैदा करता है, फिर अगली सृष्टि परमाणुओं से रचता है।

इसका उत्तर स्पष्ट है, कि 'कुल्ल,=सारी' इस शब्द का अर्थ सदा किसी मर्यादा के अन्दर रहता है, अमर्यादित अर्थ नहीं किया जाता। जैसे बाग के माली को कहना, कि "सब वृक्षों का सिंचन करो" इस से भूमण्डल के सारे वृक्षों से अभिप्राय नहीं, और जैसे हैडमास्टर का यह कहना, कि "सब विद्यार्थी उपस्थित हैं' इस वचन से समस्त स्कूलों के विद्यार्थी वा अपने भी स्कूल के पुराने विद्यार्थी अभिमत नहीं होते, किन्तु अपने ही स्कूल के और वे भी उन दिनों में शिक्षा पाने वाले ही अभिमत होते हैं। इसी प्रकार यहां भी 'कुल्ल' शब्द से परमाणु अभिमेत नहीं हो सकते। क्योंकि उनका कोई आगे पीछे कहीं जिकर ही नहीं। इससे पूर्व तो यह आया है, कि 'वही

है, जिसने आकाश से पानी बरसाया, फिर हम (=खुदा) ने उससे सब प्रकार के अंकुर निकाले, अंकुरों से हरी २ टहनियां निकाल खड़ी कीं, कि उनसे हम गुथे हुए दाने निकालते हैं, और खजूर के गाभे में से गुच्छे झुके पड़ते हैं, और अंगूर के बाग और जैतून और अनार जो मिलते जुलते और मिलते जुलते नहीं। जब (कोई चीज) पकती है, तो उसका फल और फल का पकना देखो, बेशक जो लोग ईमान रखते हैं, उनके लिए यह निशानियां हैं, और मुशरिकों ने जिन्नात को खुदा का शरीक बना खड़ा किया, हालां कि खुदा ही ने जिन्नात को पैदा किया, और इन लोगों ने बेजाने बूझे खुदा के लिए बेटे बेटियां थाप लीं, जैसी २ बातें ये लोग कहते हैं, वह इन से शुद्ध और उच्चतर है, वही भूमि आकाश का रचने हार है। और उसके सन्तान क्यों होने लगी, जब कि कभी उसकी कोई पत्नी नहीं रही' इतना कहकर उसके आगे आया है 'खलक कुल्लशयन' उसी ने सारी चीजों को पैदा किया है। यहां स्पष्ट है, कि पूर्व जो चीजें आई हैं, वह और उसी प्रकार की ही चीजें 'कुल्ल शय्यन' से अभिप्रेत हैं, जो मींह बरसाना पोदों का उगाना, फलना आदि हैं। अतएव यही सारी चीजों से अभिप्रेत हैं, परमाणु नहीं, जिनका कि ऊपर कोई ज़िकर ही नहीं।

किञ्च, यहां कहा है, कि 'उनके लिये ये निशानियां हैं' इससे स्पष्ट है, कि यहां नास्तिकों को परमेश्वर की ओर झुकाने के लिए उसके निशान जो उसकी कुदरत में हमारे दृष्टिगोचर होते हैं, वे बतलाए जा रहे हैं, जैसे कि पूर्व बतलाए हैं। परमाणु तो न किसी के दृष्टिगोचर हैं, न वे किसी की निशानी

के तौर पर बतलाए जा सकते हैं, और दृष्टिगोचर भी होते, तो भी वे निशानियां तभी कहे जाते, जब उनकी उत्पत्ति भी हमारी आंखों के सामने होती, इस लिए 'कुछ शय्यन' का अमर्यादित अर्थ लेकर उसके अन्दर परमाणुओं का समावेश करना किसी प्रकार भी युक्तिसंगत नहीं है।

सूरत हूद में आया है 'वही है, जिसने द्यौ और भूमि को छः दिन में उत्पन्न किया, और उस समय उसका तख्त पानी पर था' यहां भी द्यौ और भूमि की उत्पत्ति से पूर्व पानी की विद्यमानता स्वीकार की है।

सर्वथा शून्य से उत्पत्ति का साधक क़ुरान में एक भी प्रमाण नहीं है। अतएव मुसल्मान प्रचारकों में भी ऐसे पुरुष हुए हैं, जो मादा (प्रकृति) के अनादि होने का उपदेश देते रहे। जैसा कि मौलाना शिबली नगमानी ने अपनी पुस्तक इलम अलकलाम (पृष्ठ ५४) में लिखा है, कि मुसल्मानों का एक बड़ा फ़िरका मोअतज़िला, और इसलामी तार्किकों अर्थात् फ़ाराबी, इब्नसीना, और इब्नरशद का मत है, कि यह जगत् जीमकरातीसी (परमाणुओं) से बना है, जो अनादि हैं।

सो जगत् का मूलतत्त्व जैसा कि सृष्टिनियमों से सत् सिद्ध होता है। वैसाही इन तीन बड़े मतों से भी सत् ही सिद्ध होता है। इस अंश में यदि हम हठधर्मी को छोड़ दें, तो तीनों मत इस बड़े सिद्धान्त में सहमत हैं। इस अंशमें इनका न परस्पर विरोध है, और न सृष्टिनियमों से विरोध है। हां जिनको हठधर्मी ऐसा मानने से रोकती है, वे भले ही अपने मत को वैज्ञानिक सचाईयों के विरुद्ध मानते रहें।

२य प्रकरण—जीव विचार।

संगति—इस बात का निश्चय हो चुकने पर कि इस जगत् का उपादान एक सद्वस्तु है, जिसको प्रकृति कहते हैं, अब यह विचार उपस्थित होता है, कि क्या इस जगत् में जो कुछ होरहा है, वह सब इस अकेली प्रकृति का खेल है, वा इस जगत् में प्रकृति के सिवा और भी कोई सत्ता अपना प्रकाश दिखला रही है, और यदि है, तो वह क्या है?

इस बात का पता लगाने के लिए, आओ, इसी व्यक्त सृष्टि पर फिर दृष्टि डालें। यहां हमें दो प्रकार की सृष्टि दीखती है, एक निर्जीव, दूसरी सजीव। यद्यपि निर्जीव और सजीव सृष्टि की कई बातें तो हमें एक जैसी प्रतीत होती हैं। जैसे पत्थर को हम आंख से देखते और हाथ से छूते हैं, वैसे ही प्राण-धारियों को भी आंख से देखते और हाथ से छूते हैं, तथापि प्राणधारियों में ऐसी निराली बातें भी पाई जाती हैं, जिन से प्रतीत होता है, कि इनमें कोई और तत्त्व भी काम कर रहा है, जो निर्जीवों में नहीं। यह बात हर एक के अनुभवसिद्ध है, कि हम पत्थर की तरह अचेत नहीं, हम में चेतनता है। हम अपने अस्तित्व को जानते हैं, बाहर की वस्तुओं को पहचानते हैं, शत्रु मित्र में भेद करते हैं। हम में संकल्प, वासना, इच्छा, स्मृति, धृति, श्रद्धा, उत्साह, करुणा, प्रेम, दया, सहानुभूति, कृतज्ञता, काम, लज्जा, आनन्द, भय, राग, संग, द्वेष, लोभ, मद मत्सर, क्रोध, इत्यादि अनेक ऐसी वृत्तियां हैं, जिनका पत्थर जैसी निर्जीव वस्तुओं में कोई नाम निशान नहीं पाया जाता। इसलिए अब युक्तिप्रमाणों से इस का निर्णय करना

चाहिये, कि ये चेतनता आदि धर्म भी उसी एक प्रकृति के परिणाम हैं, वा इन के मूल में कोई और तत्त्व है ?

३—विषय—जीवन के मूलतत्त्व का विचार ।

संशय—यह जो हम अपने में चेतनता अनुभव करते हैं, कि 'मैं जानता हूं'। यह चेतनता प्राणधारियों में ही पाई जाती है, अप्राणियों में नहीं। अब प्राणधारियों का देह तो उन्हीं तत्त्वों से बना है, जो बाह्य जगत् में पृथिवी आदि रूप से वर्तमान हैं। पर उन में कोई चेतनता प्रतीत नहीं होती, और यहां प्रतीत होती है। तत्त्व हम यहां भी उन तत्त्वों से अतिरिक्त कोई नहीं पाते। इस से संशय होता है, कि क्या यह चेतना इन्हीं तत्त्वों का धर्म है, जो देह में ही आकर प्रकट होता है, अन्यत्र नहीं, अथवा जैसे लैम्प के अन्दर एक अलग प्रकाशमयी बत्ती होती है, जो उस लैम्प को प्रकाशमान बना देती है। इसीप्रकार देह के अन्दर एक अलग चेतन आत्मा है, जो इस देह को चेतनसा बना देता है ?

किञ्च—वादियों का मतभेद होने से भी संशय होता है, कि देह से अतिरिक्त आत्मा है, वा नहीं ?

पूर्वपक्ष—चार्वाक का देहात्मवाद—

चार्वाक नास्तिक—इस सृष्टि में पृथिवी जल तेज और वायु ये चार तत्त्व हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। इन से अतिरिक्त भी कोई तत्त्व है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। अब यद्यपि न तो अलग २ इन तत्त्वों में चेतनता दीखती है, न ही मिले हुओं में, क्योंकि तपा हुआ जल, वा घास के तिनके डालकर तपाया हुआ जल भी चेतन नहीं होजाता, तथापि देहाकार से परिणत हुए भूतों में चेतनता उत्पन्न होजाती है, जैसे मदिरा के बीजों में न तो

अलग २ में, न मिले हुओं में, मादकशक्ति दीखती है, पर जब वे मदिराकार में परिणत होते हैं, तो उनमें मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है,वहां वह शक्ति उन्हीं चीजों के अन्दर है,किन्तु जबतक वे मदिरा के रूप में परिणत न होजायं—इकट्ठे भले ही पड़े रहें—तबतक उनमें प्रकट नहीं होती। इसीप्रकार भूत भी जब तक देह के रूप में परिणत नहीं होते, चेतनता उन में प्रकट नहीं होती, पर देह के रूप में परिणत होते ही उन में चेतनता प्रकट होजाती है, देह से भिन्न आत्मा का साधक कोई प्रमाण नहीं है। चेतनता आदि जो आत्मा के धर्म हैं, वे देह के ही धर्म सिद्ध होते हैं। देह पर जहां कोई हाथ लगाए, वहीं झट उसी भाग को पता लग जाता है, इस से स्पष्ट है, कि चेतनता देह का ही धर्म है। चेष्टा भी शरीर में होती है, इसलिए शरीर का ही धर्म है, इसी प्रकार श्वास प्रश्वास भी शरीर का ही धर्म हैं।

आंख खोलना मीचना आदि भी शरीर के अधीन होने से शरीर के ही धर्म हैं " अहं प्रतीति=मैं की प्रतीति" जो मैं (=आत्मा) की प्रतीति है, वह भी देह को ही "मैं," (= आत्मा) सिद्ध करती है। क्योंकि मैं गोरा हूं, मैं काला हूं, मैं बौना हूं, मैं लंबा हूं, मैं बाल हूं, मैं युवा हूं, इत्यादि प्रतीतियें देह को ही 'मैं' अर्थात् आत्मा सिद्ध करती हैं। इसी लिए आत्मवादी जो यह कहते हैं, कि 'मैं जानता हूं' इस प्रतीति से ज्ञान का आश्रय आत्मा देह से अलग है, यह उन की भूल है, क्योंकि 'मैं गोरा हूं' इत्यादि में जो 'मैं' शब्द का विषय है, वही 'मैं जानता हूं' में 'मैं' शब्द का विषय होना चाहिये, और 'मैं गोरा हूं' इत्यादि में 'मैं' का विषय निःसंदेह देह है, इस लिए 'मैं जानता हूं' में भी 'मैं' शब्द का विषय देह ही है।

अत एव 'मैं जानता हूं' इस प्रतीति से भी देह में ही चेतनता सिद्ध होती है। और 'मेरे सिर में पीड़ा है, पाओं में सुख है' यह प्रतीति तो देह से अलग आत्मा मानने में बन ही नहीं सकती, क्योंकि सुख और दुःख दो विरोधी धर्म हैं, और दो विरोधी धर्म एक काल में एक वस्तु में इकट्ठे नहीं रह सकते। हां यदि देह को चेतन मानों तो देह के सारे भाग चेतन होने से एक भाग में पीड़ा और दूसरे में सुख अनुभव हो सकता है। इस प्रकार जीवन के सारे लक्षण जब देह के धर्म सिद्ध होते हैं, तो सिद्धान्त यही निकलता है "**चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः**" (बृहस्पति सूत्र) चेतनता से युक्त शरीर ही आत्मा है।

उत्तरपक्ष—१) चेतनता यदि शरीर का गुण हो, तो यह भूतों का विशेषगुण मानना होगा और भूतों के जो विशेष-गुण हैं, वे जब तक भौतिक पदार्थ रहते हैं, तब तक बराबर बने रहते हैं, जैसे जब तक घड़ा है, तब तक उस में रूप रहेगा, संभव नहीं, कि घड़ा तो हो और रूप उसमें न हो। इसी प्रकार संभव नहीं है, कि वायु तो हो, और स्पर्श उसमें न हो। पर ज्ञान, जब पुरुष मर जाता है, तो देह के होते हुए भी नहीं रहता, सो भूतों के विशेषगुण जो रूपादि हैं, उन से निराली होने से चेतनता देह का धर्म नहीं है। इसी युक्ति से इच्छा प्रयत्न और सुख दुःख भी देह का धर्म नहीं बन सकते। सांसलेना और चेष्टा आदि यद्यपि देह के धर्म हैं, तथापि ये देहमात्र से उत्पन्न होते, तो मृतावस्था में भी होते रहते। इस लिए जिस निमित्त से यह देह में उत्पन्न होते हैं, वह देह से अलग आत्मा है।

(१) देह के धर्म अपने आप को, और औरों को, भी प्रत्यक्ष होते हैं, पर इच्छादि अपने को ही प्रत्यक्ष होते हैं, औरों को नहीं, इस निरालेपन से भी ये देह के धर्म नहीं ठहरते।

मद शक्ति का जो दृष्टान्त दिया है, वह विषम दृष्टान्त है, क्योंकि मदशक्ति कोई विशिष्टगुण नहीं, किन्तु उत्तेजना देने का सामर्थ्य है। वह सामर्थ्य मदिरा के अवयवों में पहले भी अपनी मात्रा से रहता है, परिणामविशेष से वह पूर्णतया अभिव्यक्त हो जाता है, मात्रा से उत्तेजना तो मदिरा के जनक बीज भी करते ही हैं। पर चेतनता एक विशिष्ट गुण है, वह यदि मात्रा से देह के अवयवों में हो, तो सभी अवयव चेतन होंगे, तब एक देह में बहुत से चेतन हुए, और उन स्वतन्त्र बहुत से चेतनों का एक दूसरे के अभिप्राय को जानना और तदनुकूल काम करना संभव नहीं, तब जैसे एक जाल में फंसे हुए पक्षी यदि सारे के सारे एक साथ मिल कर एक ही दिशा को उड़ें, तो वे जाल को लेकर उड़ जाने का सामर्थ्य रखते हैं, पर वे एक दूसरे का अभिप्राय न जानने के कारण समर्थ होते हुए भी एक हाथ भर दूर भी उड कर जा नहीं सकते, इसी प्रकार देह भी कोई भी काम न कर सके, यदि उस में एक दूसरे का अभिप्राय न जानने वाले बहुत से चेतन देह के संचालक हों। इस लिए देहका संचालक, सारे देहावयवों को एक ओर लगाने वाला अधिष्ठाता, देह का स्वामी देही देह से अलग ही है। उसी के सम्बन्ध से सारे देह में चेतनता प्रतीत होती है, जब वह देह को त्याग देता है, तो देह में चेतनता का नाम नहीं रहता।

(३) अहं प्रतीति का आश्रय भी देह से भिन्न ही सिद्ध होता है, क्योंकि यदि अहं प्रतीति देह के आश्रय हो तो, 'जिस मैं ने बालकपन में माता पिता का अनुभव किया है, वही मैं अब बुढ़ापे में प्रपोतों को अनुभव कर रहा हूं" ऐसी प्रत्यभिज्ञा न हो, क्योंकि बाल और वृद्ध शरीर में प्रत्यभिज्ञा का गन्ध भी नहीं है, जिस से एकता का निश्चय किया जा सके। इस लिए—जिन के आपस में अलग २ होने पर जो उन सब के साथ वर्तमान रहता है, वह उन सब से भिन्न होता है (जैसे फूलों से सूत्र)। बालादि शरीरों के परस्पर अलग२होने पर अहं प्रतीति का आश्रय उन सब के साथ वर्तमान रहता है, इस लिए अहं प्रतीति का आश्रय बालादि शरीरों से भिन्न है।

किञ्च—स्वप्न में स्थूलदेह के निश्चेष्ट पड़ा रहने पर भी 'मैं बाग की सैर कर रहा हूं' यह 'मैं' की प्रतीति जिस मैं को आश्रय करती है,वह मैं इस स्थूल देह से भिन्न ही होसकता है।

सुषुप्ति (गाढनिद्रा) के अनन्तर 'मैं सुख से सोया कुछ पता नहीं रहा' इस प्रकार जो उस समय की अवस्था का पता देता है, वह उस अवस्था का साक्षी 'मैं' इस अचेत पड़े देह से भिन्न ही हो सकता है। इस प्रकार अहं प्रतीति का आलम्बन देह से भिन्न सिद्ध होता है। अत एव मैं गोरा हूं, मैं काला हूं इत्यादि प्रतीति में 'मैं' शब्द शुद्ध आत्मा का बोधक नहीं, किन्तु शरीर विशिष्ट आत्मा का बोधक है। जैसे तप्त लोहे में यद्यपि जलाने वाली अग्नि है, तथापि लोहे से मेरा हाथ जलगया, ऐसी प्रतीति और व्यवहार होता है॥

'मेरे सिर में पीड़ा है मेरे पाओं में सुख है' इस प्रतीति से

सुख दुःख का अनुभव करने वाला 'मैं' एक प्रतीत होता है, अतएव वह "मेरे सिर में, मेरे पाओं में" कहता है, अब यह स्पष्ट है, कि सिर और पैर तो एक अंग नहीं, दो हैं, इसलिए अनुभव करने वाला मैं इन दोनों से अलग है, सो जब अनुभविता एक है तो वह एक काल में एक ही अनुभव कर सकता है, और ऐसा ही होता है, किन्तु अतीव शीघ्रता से बारी २ दोनों को अनुभव करने से अलातचक्र की तरह काल का भेद प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार जीवन के समस्त लक्षणों से जीव देह से भिन्न सिद्ध होता है।

दूसरा पूर्व पक्ष—आधुनिक वैज्ञानिक—केवल अनुमान से पदार्थों के तत्त्व की खोज लगाने का युग जाता रहा। आजकल विज्ञान का युग है, इस युग में निरे अनुमानों से नहीं, किन्तु अनेक प्रकार के रासायनिक प्रयोगों से विश्लेषण संश्लेषण करके उनके तत्त्वों की, और उन तत्त्वों के रासायनिक कार्य की परीक्षा की जाती है। उस परीक्षा से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही तत्त्वज्ञान माना जाता है। इस प्रकार जब हम परीक्षा करते हैं, तो बाह्य जगत् में प्रकृति और क्रिया के बिना और कोई तत्त्व सिद्ध नहीं होता, इन्हीं दोनों से बाह्य सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है।

जीवनकार्य भी पहले तो एक रहस्यसा बना हुआ था, पर जब विज्ञान वेत्ताओं ने इसकी परीक्षा आरम्भ की, तो यह भी प्रकृति की क्रियाओं का एक परिणाम विशेष सिद्ध होगया है।

आत्मा का कोई अलग अस्तित्त्व नहीं, क्योंकि जीवन के सारे कार्य देह के साथ बंधे हुए हैं। जीवन देह की उत्पत्ति के साथ आरम्भ होता है, और देह के मरने के पीछे उसका कोई चिन्ह

शेष नहीं रहता । देह में छोटे २ जीवकोष (Cells) ही देह की बनावट को बनाने वाले और स्वतन्त्र जीवन रखने वाले हैं । सुई की नोक जितने देहभाग में करोडों जीवकोष वर्तमान हैं । एक २ जीवकोष की अलग २ कोठडियों में रस तैयार होते रहते हैं । येही रस रसायनिक रीति पर हरएक आहार का विश्लेषण संश्लेषण करके जीवन का कार्य चलाते हैं । यकृत में जो रस तैयार होता है उसमें से कुछ तो यूरिया (Urea) बनाता है,और कुछ पित्तरस,और उसका कुछ भाग अनेक प्रकार के रंग बनाने में लगा रहता है,और कुछ देह के विष को भी अलग २ करके नष्ट करता है । कुछ पाकाशय में उत्पन्न हुए अम्लपदार्थ को दूसरे से मिलाता है । यकृत की भांति प्लीहा, मूत्राशय फेफडे आदि देह के सभी अवयवों में करोडों जीवकोष जीवन के सारे कार्य चला रहे हैं । आत्मा का अनन्य कार्य जो पदार्थों का ज्ञान इच्छा प्रयत्न और चेष्टा आदि हैं, वे भी मस्तिष्क और स्नायु-समूह के जीवकोष चला रहे हैं । बाह्य पदार्थों का प्रतिबिम्ब हमारे नेत्र में पहुंचने पर नेत्रगत सूक्ष्म स्नायुओं में क्रिया उत्पन्न होजाती है, जो मस्तिष्क में पहुंचती है । वही क्रिया वहां ज्ञान का रूप धारती है ।

ज्ञान इच्छा प्रयत्न सुख दुःख और द्वेष जो आत्मिक जीवन का रूप हैं, ये न केवल देह की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होते और देह की मृत्यु के साथ मर जाते हैं, अपितु शारीरिक परिवर्तनों के साथ इनमें भी परिवर्तन होता रहता है । शराब पीने वा अफीम खाने से आत्मिक जीवन रंग बदल लेता है । रोगी का स्वभाव ही बदल जाता है । मनुष्य की बचपन की वृत्तियां और होती हैं,यौवन की और,इस भेद का कारण शारीरिक अव-

स्था का बदलना है। मनुष्यों के मस्तिष्क के परिमाण और बनावट से उनकी बुद्धि के तारतम्य का पता लगाया जाता है। पशुओं में भी बुद्धि का तारतम्य उनके मस्तिष्क के परिमाण और बनावट से ही सम्बन्ध रखता है, इससे यही निष्पन्न होता है, कि आत्मा प्रकृति की क्रियाओं का एक परिणामविशेष है, और कुछ नहीं। और अब तो उद्योगी वैज्ञानिकों ने परीक्षा कर २ के जीवन के सारे रहस्य ऐसे खोल कर रख दिये हैं, कि अब जीवन को प्रकृतिजन्य मानने में कोई संदेह शेष रह ही नहीं जाता। यह तो प्रत्यक्ष हो चुका है, कि जीवकोष ही जीवधारियों के जीवनघन हैं, और ये जीवकोष सारे शरीर में व्याप्त हैं। इन का उत्पत्ति विनाश होता रहता है। साधारण जीवकोषों के नाश से तो प्राणी की मृत्यु नहीं होती, पर हृदय आदि मर्म स्थानों के जीवकोषों के नाश से मृत्यु होजाती है। पर मृत्यु के पीछे भी उसके कई जीवकोष देर तक जीवित रहते हैं। कुछ ही दिन की बात है, फ्रांस की एक वैज्ञानिक परिषद् (French acadmy of medicine) में वहां के डाक्टर केरल (Dr. Alixis Carrel) ने मृत्यु के सम्बन्ध में अपने नवीन अनुभव बतलाए हैं * उन्होंने तत्काल मरे हुए प्राणी की देह से टुकडा काट कर कुछ ओषधियों में उस मांसखण्ड को डुबो रक्खा, इस से वह सजीव होने के लक्षण दिखाने लगा, तब उन्होंने उस मांसखण्ड से कुछ टुकडे काट कर उनका पेवन्द पशुओं के कटे हुए शरीर पर लगाया। उन्हें इस कार्य में भी सफलता प्राप्त हुई (अर्थात् वे अवयव वहां ठीक काम देने लगे) इस आश्चर्यकारक परीक्षा के फल से वैज्ञानिक संसार को विदित होगया, कि जिस

* देखो सरस्वती जून १९१६ में "मृत्यु का नया रूप" नामी लेख।

देह को हम मृत समझते हैं,उसका बहुतसा अंश मृत्यु का अनुभव करके भी कुछ समय तक जीवित रहता है। वैज्ञानिकों ने मृत देह के इस जीवन को-"Intracellular Life" अर्थात्-कोष का जीवन नाम दिया है। यह आविष्कार बडा आश्चर्यजनक है,किन्तु हाल में डाक्टर केरल ने जो नवीन आविष्कार किये हैं, उनका विवरण और भी आश्चर्यकारक है। उन्हों ने दिखाया है, कि देह से अलग हो कर केवल मांसखण्डही जीवित नहीं रहता, हृत्पिण्ड आदि विशेष २ अवयव भी देह से अलग करके जीवित रक्खे जा सकते हैं। ये सब अवयव जीवित अवस्था में देह में रहकर जिस प्रकार अपना २ कार्य करते हैं, उसी प्रकार देह से पृथक् कर देने पर भी करते हैं। प्राणी का हृत्पिण्ड धीरे २ सिकुडता और फैलता हुआ देह में रक्त का सञ्चार करता है, फुप्फस (फेफडा) वायु से आक्सिजन ग्रहण करता है और विषमय अंगारकवाष्प देह से बाहर निकालता है। पाकाशय के सब यन्त्र भोजन का सार ग्रहण करते हैं, और उससे रक्त की कणिकाएं बनाते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है, कि शरीर के ये अवयव या यन्त्रसमूह शरीर से अलग हो कर भी सावधानी के साथ रखने से जीवित रहते हैं और अपना काम ज्यों का त्यों करते हैं। कुछ दिन हुए, रात को दस बजने के समय फ्रांस के एक प्रसिद्ध धनिक की मृत्यु हुई। उसकी बहुत बडी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका एक नाबालिग लडका था। कानून के अनुसार बालिग होने का जो समय निश्चित है, लडका उसे उसी रात के बारह बजे पूर्ण करने वाला था। अतएव उसके कुटुम्ब के लोग बडे चिन्तित हुए वे सोचने लगे, कि नाबालिग अवस्था में पिता के मर जाने से

लडके को सम्पत्ति का अधिकारी बनने में बहुत कुछ खर्च उठाना पडेगा। मृत व्यक्ति को दो घण्टे तक जीवित रखने के लिए फ्रांस के मुख्य चिकित्सक बुलाये गये। केरल साहेब भी उन्हीं में थे। वे उसके शरीर के भीतर एक छोटी सी पिचकारी से तरह तरह की औषधियां पहुंचाने लगे। इस का फल यह हुआ, कि स्पन्दहीन हृदययन्त्र फिर स्पन्द करने लगा। शरीर की गर्मी बढ़ी, और फेफडा भी औषधियों की उत्तेजना से अपना श्वासोच्छ्वासकार्य करने लगा। इस प्रकार मृत शरीर में नवीन जीवन का संचार होगया। केरल साहेब ने इस प्रकार मृत व्यक्ति को १२ बजने के बाद १५ मिनट तक जीवित रक्खा। इस प्रकार रसायनशास्त्रियों ने जीवन को एक रासायनिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होने वाला सिद्ध कर दिखलाया है। और यह भी देख लिया है, कि वे जीवकोष किस २ तत्त्व के मिश्रण से बने हैं। कार्बन, हाइड्रोजन, और फास्फरस आदि ही जीवन की जन्मदात्री रसायनें हैं,इन्हीं के साथ एक यथेष्ट मात्रा में जल और कुछ नमक की और आवश्यकता है। जब रसायनवेत्ताओं को अनुभवों द्वारा विदित होजायगा, कि कौन तत्त्व किस मात्रा में मिलाना चाहिये,तब रसायायनशास्त्री इन्हीं निर्जीव पदार्थों से सजीव पदार्थों की रचना कर दिखलायेंगे। इस का स्पष्ट चिन्ह प्रकृति में पहले ही विद्यमान है। हाइड्रानामी जन्तु के दो टुकडे करने से दो जन्तु बन जाते हैं। और दोनों जीवनकार्य करते हैं। यदि उनमें कोई अलग आत्मा होता, तो दोनों में से एकही जीवित रहता, जिसमें कि आत्मा रहता। सो हृत्पिण्ड आदि के जीवनकार्य की भांति ज्ञान भी मस्तिष्क का एक रसायनिक जीवन कार्य है। जब कोई जीवधारी जन्म लेता है,

उसी समय से वह अपने आस पास की वस्तुओं को जानने लगता है। इन सब ज्ञानों का संगठन(Sum total) ही आत्मा या 'मैं' बनजाता है। और जैसे २ देशाटन विद्याऽध्ययन तथा कार्यविशेष में हम प्रवृत्त होते हैं, वसेही वैसे हमारा आत्मा या हमारा मैं भी परिवर्तित होता जाता है। सो इस प्रकृति का परिणामविशेष ही आत्मा है, आत्मा कोई स्वतन्त्रसत्ता नहीं रखता।

उत्तरपक्ष—(१) शारीरिक तत्त्ववेत्ताओं ने यदि इस बात का पता लगा लिया है, कि आहार को गलाना, रुधिर बनाना, बढ़ाना, शोधना और सांस लेना आदि जीवन के कार्य जीवकोषों द्वारा अपने आप सिद्ध हो रहे हैं, तो इतने से मत फूलजाइये, कि उन्होंने जीवन के मूलाधार आत्मा का पता लगा लिया है। इन सारी क्रियाओं और परिणामों को तो आत्मदर्शी पहले से ही प्रकृति का कार्य मानते चले आते हैं। और यह अनुभव-सिद्ध बात है, कि ये कार्य हम अपनी इच्छा से नहीं कर रहे, अपने आप हो रहे हैं, इसलिए ये एक रासायनिक परिवर्तनों का ही फल कहे जासकते हैं। अतएव इनको आत्मा का स्वरूप वा आत्मिक जीवन नहीं माना गया है। आत्मा का स्वरूप केवल चेतनता है। और चेतनता इन रासायनिक परिवर्तनों का फल नहीं, वह अपनी एक स्वतन्त्रसत्ता रखती है। क्रिया और चेतनता सर्वथा दो विलक्षण शक्तियां हैं, क्रिया किसी पदार्थ के हिलने डोलने का नाम है, और चेतनता उस पदार्थ के देखने का नाम है। देखना साक्षात् करना यह काम एक साक्षीपन का है, साक्षी सदा तटस्थ होता है, इसलिए क्रिया जो कि वस्तु का धर्म है, वह चेतनता अर्थात् साक्षीपन का रूप नहीं धार सकती। क्रिया स्वयं जड है, जड पदार्थों का धर्म है, उसके परिणाम

सब जड़ात्मक होते हैं, पर चेतनता जड़ता के विरुद्ध है, अतएव चेतनता न क्रिया है, न क्रियावान् पदार्थ है, न क्रिया का परिणाम है, किन्तु क्रिया, क्रियावान् पदार्थ और क्रिया के परिणामों का साक्षात् अनुभव है,जो किसी तटस्थ साक्षी का धर्म है।

रसायन शास्त्र जीवन के रासायनिक कार्यों को सिद्ध कर सका है,पर चेतनता अभी रसायन शास्त्रियों की पहुंच से परे है। "चेतनता यह वस्तु है, और इस प्रकार उत्पन्न हो सकती है" ऐसी प्रतिज्ञा किसी भी रसायन शास्त्री ने नहीं की। केरल साहेब ने जहां कृत्रिम प्राण सञ्चार करवाया, वहां वे चेतनता को लौटा नहीं सके। सरस्वती में जहां उनके इस अद्भुत कार्य का वर्णन दिया है, वहां इस बात का भी उल्लेख है "पर वे मृतक शरीर में चेतन शक्ति उत्पन्न न कर सके"।

(२) बाह्य विषयों के सम्बन्ध से इन्द्रिय और मन स्वभावतः अपने २ कामों में भले ही प्रवृत्त होजायँ, पर देखना यह है, कि मन और इन्द्रियों के अलग २ व्यापार होकर ही काम समाप्त नहीं होजाता, किन्तु उन सब का इकठ्ठा ज्ञान होने के लिए उन की एकता करनी पड़ती है, और फिर पिछले अनुभवों के द्वारा उस वस्तु के उपयुक्त और अनुपयुक्त होने का निर्णय करना पड़ता है, और फिर तदनुकूल काम करने के लिए कर्मेन्द्रियों को लगाया जाता है। अब यह देह में इस प्रकार के अधिष्ठातृत्व का काम कौन करता है, इन्द्रियों वा जीवकोषों से तो यह काम नहीं होसकता, वे आपस में एक दूसरे के काम से कोई सरोकार नहीं रखते, न ही उनको किसी दूसरे के काम का पता होता है,इसलिए न तो ये अलग२,और न इनका सङ्घात शरीर का अधिष्ठाता है,सो जो इनका अधिष्ठाता है,वही आत्मा है।

(३) यह ठीक है, कि शरीर से अलग होकर भी फेफड़ा आदि अंग अपना काम कर सकते हैं, पर वह काम उनका घड़ी के काम की नाईं रहजाता है, उनमें आत्मिक जीवन का कोई चिन्ह नहीं रहता। जीवित अवस्था में जब सांस घुटने लगे, तो हम ताज़ी हवा की ओर उठ दौड़ते हैं, पर शरीर से अलग हुआ फेफड़ा अपनी प्रतिकूल अवस्था को टालने का कोई यत्न नहीं करेगा। इससे स्पष्ट है, कियह जीवन आत्मिक जीवन नहीं है, इसी प्रकार दूसरे अवयवों में भी क्रिया होती है, चेष्टा नहीं।

(४) हर एक संघात-एक प्रयोजन रखने वाली भिन्न २ वस्तुओं का समुदाय-किसी दूसरे के प्रयोजन के लिए होता हैं, जैसे पाए, बाहु, और रस्सी का संघात रूप पलंग मनुष्य के लिए होता है, इसी प्रकार जीवकोषों और नाड़ी नस हड्डी आदि का संघात भी संघात से भिन्न के लिए होना चाहिये, सो जिसके लिए यह संघात है, वह संघात से अलग आत्मा है। शरीर से अलग होकर जीवकोष अनुकूल दशा में जीवित भले हीरहें, पर इन सारे जीवकोषों की यथायोग्य रचना जिसके प्रयोजन के लिए हुई है, वह इन से अलग है।

(५) 'मैं' आत्मा, यदि प्रकृति की क्रियाओं का परिणाम होता, तो सर्वथा प्रकृति के अधीन होता, पर ऐसा है नहीं। पुरुष अपनी स्वतन्त्रता से काम करता है। उसके पास रोटी पड़ी हुई उसको बेबस खींच नहीं लेती, बल्कि वह देखता है, कि इस रोटी पर उसका स्वत्व भी है, वा नहीं, यदि स्वत्व नहीं है, तो वह भूख सहकर भी नहीं उठाता। उसके पाओं पानी से बहाई लकड़ी की तरह, वा पृथिवी से खींचे पानी की तरह एक ही दिशा को नहीं चलते,

पाओं रखता है, एक पुरुष को बरसों से जुए और चोरी की बाण पड़ गई है, पर जब उसका आत्मा जाग उठता है, तो एक-दम वह उनको ऐसा त्याग देता है, कि नाम भी नहीं लेता। हर्ष शोक की बातें सुनकर भी मनुष्य हर्ष शोक को रोक लेता है, क्रोध की बात सुनकर भी क्रोध को रोक लेता है। यदि आत्मा अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रखता, किन्तु रासायनिक सत्ता रखता, तो वह कहीं भी अपनी स्वतन्त्रता न दिखला सकता, उसकी परिवर्तक क्रियाएं जैसा उसको नाच नचातीं, वैसा ही नाचता। पर वह इस देह पर शासन करता है, न कि इसके अधीन नाच नाचता है, इसलिए वह इस देह से अलग है। बाल्य यौवन आदि के विचारों का भेद वा शराब अफीम आदि का प्रभाव जो बुद्धि पर होता है, उससे चेतनता का स्वरूप नहीं बदल जाता, किन्तु उसके सामने दृश्य बदलते हैं। और जैसे दृश्य उसके सामने आते हैं, वैसे दृश्य वह देखता है, और तदनुसार उसके विचार होते हैं। और यह प्रभाव भी, जैसा शारीरिक अवस्था का विचारों पर पड़ता है, वैसे विचारों का भी शारीरिक अवस्था पर पड़ता है। इस प्रभाव से इन दोनों का सम्बन्ध प्रतीत होता है, न कि एक दूसरे से उत्पत्ति। आत्मा तो पूर्वोक्त युक्तियों से इन दृश्यों का द्रष्टा इनसे अलग सिद्ध होता है।

'जिस मैंने बाल्यकाल में माता पिता का अनुभव किया था, वही मैं अब बुढ़ापे में प्रपोतों को अनुभव करता हूं,' यह प्रतीति भी आत्मा को जीवकोषों से वा संघात से अलग सिद्ध करती है, क्योंकि जीवकोष और उनका संघात उत्पत्ति - नाश वाले होने से वही नहीं रहते, बदल जाते हैं।

सिद्धान्त—इस लिए आत्मा देह में देह से अलग देह का

स्वामी है। देह का स्वामी होने से उसे देही वा शरीर और जीवन का हेतु होने से जीव कहते हैं।

शंका—हाइड्रा के दो टुकड़े करने से जो दोनों जीवित रहते हैं, इसका क्या समाधान है।

समाधान—हरएक प्राणधारी के बीज में बीज का अधिष्ठाता एक अलग आत्मा होता है, जिसके लिए वह बीज शरीर का रूप धारता है, और जो इस नए शरीर का अधिष्ठाता होता है। ये बीज जैसे वृक्षों के फलों में अलग उत्पन्न होते हैं, और उन बीजों से फिर वृक्ष उत्पन्न होते हैं, पर किसी २ वृक्ष की शाखाएं काटकर भी लगाई जाती हैं, अर्थात् वे शाखाएं ही उसके बीज होती हैं, जैसे ईख का हरएक पर्व उसका बीज होता है, इसी प्रकार हाइड्रा के भी पर्व उसके बीज होते हैं, अतएव बीज से सन्तानोत्पत्ति की तरह हाइड्रा के बीजों से वे अलग २ हाइड्रे सन्तान के रूप में उत्पन्न होते हैं।

४ विषय—आत्मा के स्वरूप का विचार।

संशय—जब यह सिद्ध होगया, कि आत्मा देह से अलग है, तो अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि उसका स्वरूप क्या है। क्या ये जो वृक्ष का ज्ञान, पशु का ज्ञान, रस का ज्ञान, शब्द का ज्ञान इत्यादि रूप से एक के पीछे दूसरा और दूसरे के पीछे तीसरा ज्ञान उत्पन्न होता रहता है, यही सब मिलकर आत्मा है, वा आत्मा इन से परे कोई तत्त्व है ?

पूर्वपक्ष—बौद्ध—हमारा अनुभव बतलाता है, कि हमारे अन्दर जो विज्ञान है, वह क्षण २ में अपने आकार बदलता रहता है, इस क्षण नील का विज्ञान (अर्थात् नीलाकार विज्ञान) है, तो दूसरे क्षण पीत का है, और तीसरे क्षण कोई और है। इस

प्रकार विज्ञान की एक धारा है, जिसके आकार बदलते हैं, पर धारा अविच्छिन्न (बिना टूटे) बनी रहती है। यह **विज्ञानधारा ही आत्मा** है। इस से परे आत्मा मानने में कोई प्रमाण नहीं, और इसको आत्मा मानने में कोई बाधा नहीं।

प्रश्न उत्पन्न होता है, कि एक क्षण में कभी दो विज्ञान भी इकट्ठे नहीं होते, जब नील का विज्ञान है, उस समय पीत का नहीं, और पीछे जब पीतका विज्ञान हुआ, तो उस समय नील का विज्ञान जाता रहा, इस प्रकार ज्ञान के क्षणिक होने से जब दो भी विज्ञान इकट्ठे नहीं होते, तो विज्ञानों की धारा कैसे बन सकती है, इसका उत्तर यह है, कि नदी की धारा को इसलिए धारा नहीं कहते कि वह दूर तक लम्बी एक साथ दीखती है, अपितु इसलिए धारा कहते हैं, कि पहली २ जल व्यक्ति के आगे २ बढ़ जाने पर, दूसरी २ जल व्यक्ति इस प्रकार उसके स्थानपर आती जाती है, कि वह स्थान सदा भरा रहता है। इसीलिए बहते हुए ही जल की धारा कहलाती है। इसी प्रकार पहली २ विज्ञान व्यक्ति का स्थान दूसरी २ विज्ञान व्यक्ति लेती चली जाती है, न तो कोई एक विज्ञानव्यक्ति एक क्षण से अधिक टिकती हैं, और न ही विज्ञानशून्य कोई काल आता है, इसलिए यह विज्ञानधारा कहलाती है। इस धारा में पहला विज्ञान दूसरे का कारण होता है, दूसरा पहले का कार्य होता है। इसलिए इस विज्ञानधारा को विज्ञान सन्तति वा विज्ञान सन्तान भी कहते हैं। सुषुप्ति में भी यह विज्ञान सन्तति वर्तमान रहती है। हां उस समय इस सन्तति में जाग्रत और स्वप्न के विज्ञानों की भांति एक दूसरे से आकार में विलक्षणता नहीं होती, केवल व्यक्ति भेद होता है।

प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब हर एक विज्ञानव्यक्ति

अगली व्यक्ति को उत्पन्न करके आप नष्ट होजाती है, तो फिर कर्मफल का नियम और स्मृति का नियम कैसे घटेगा। क्योंकि कर्मफल की व्यवस्था यह है, कि जो करता है, उसी को फल मिलता है, दूसरे के किये कर्म का फल दूसरे को नहीं मिलता। इसी प्रकार स्मृति की व्यवस्था भी यह है, कि जो जिस वस्तु का अनुभव करता है, उसी को उसकी स्मृति होती है, दूसरे की अनुभूत वस्तु की दूसरे को स्मृति कभी नहीं होती। यह व्यवस्था हम संसार में अटल देखते हैं। पर विज्ञानधारा को आत्मा मानने में यह व्यवस्था टूटती है, क्योंकि विज्ञानधारा में जब हर एक विज्ञानव्यक्ति क्षणिक मानी जाती है, तो यह स्पष्ट है, कि कर्म करने वाली विज्ञानव्यक्ति फल भोग के समय तक टिकी नहीं रही। वह कर्म करके नष्ट होगई, फल उसको नहीं मिला। फल उसकी संन्तति में से किसी अगली विज्ञानव्यक्ति को जा मिला, जिसने वह कर्म नहीं किया है। इसी प्रकार अनुभव करने वाली विज्ञानव्यक्ति भी स्मृति के समय तक टिकी नहीं रही वह अनुभव करके नष्ट होगई, स्मृति उसको नहीं हुई, स्मृति उसकी सन्तति में से किसी अगली विज्ञानव्यक्ति को जा हुई, जिसने वह अनुभव नहीं किया है? इसका उत्तर यह है, कि पूर्व २ विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञान में अपनी २ वासनाएं देता चला जाता है, और हर एक विज्ञान अपने ही सन्तान (सिलसिले) में वासना देता है, अन्य में नहीं, इस लिए अव्यवस्था नहीं होती। जैसा कहा है:—

यस्मिन्नेव हि सन्तान आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥

जिस सन्तान में कर्मवासना डाली गई है, उसी में ही वह फल उत्पन्न करती है, जैसे कपास में लाली (अर्थात् बीज को लाख द्वारा लाल रंग देने से कपास लाल होती है)। इन्हीं वासनाओं के अनुसार मरने के अनन्तर फिर जन्म भी होता है॥

यह विज्ञानधारा जो आत्मा है, यही एक सद्वस्तु है, इससे भिन्न कुछ है ही नहीं। यह जो बाहर मनुष्य पशुपक्षी ओषधि वनस्पति नदी पर्वत पृथिवी चन्द्र सूर्य आदि भासते हैं, ये सब विज्ञान के ही आकारविशेष हैं, कोई अलग पदार्थ नहीं हैं। जो लोग इन पदार्थों की बाह्य सत्ता मानते हैं, उनसे हम पूछते हैं, कि पहले तो यह बतलाओ, कि न तो बाह्य विषय शरीर के अन्दर घुसते हैं, न आत्मा शरीर से बाहर निकल कर बाह्य विषयों के साथ जुड़ता है, फिर आत्मा को उन का अनुभव कैसे होता है, इस का उत्तर यही हो सकता है, कि जब बहिःस्थ मनुष्य पशु आदि का प्रतिबिम्ब हमारे नेत्र पर पड़ता है, वा शब्द आदि का सम्बन्ध श्रोत्र आदि से होता है, तब इन्द्रियगत सूक्ष्म स्नायुओं में क्रिया हो कर मस्तिष्क में पहुंचती है, तब आत्मा को उसका ज्ञान हो जाता है। इस पर हम फिर पूछते हैं, कि यह जो ज्ञान होता है, उसमें उस बाह्यपदार्थ का आकार (स्वरूप) ज्यों का त्यों भासता है वा नहीं। इसका उत्तर यही है, कि हां, ज्यों का त्यों भासता है। इससे सिद्ध है, कि मस्तिष्क में निरी क्रिया ही नहीं पहुंची, अपितु क्रियाद्वारा वस्तु का आकार जा कर प्रतिबिम्बित होता है। अर्थात् विज्ञान विषयाकार हो जाता है। अब जब कि विज्ञान को बाहर की वस्तुएं नहीं, अपितु अपने अन्दर के ही आकार भासते हैं, तब यदि बाहर वस्तुओं को न मान कर पहले

ही विज्ञान को उस २ आकार वाला मान लिया जाय, तो फिर बाह्य विषय के मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। और यदि बाह्यवस्तुओं को मान कर भी विज्ञानगत आकार को मानना ही है, तो पहले ही क्यों न विज्ञान में उस आकार को मान लें। क्यों व्यर्थ बाह्यपदार्थ भी साथ मानें। ज्ञाननिष्ठ मनुष्यादि आकारों से ही जब 'यह मनुष्य है' 'यह पशु है' इत्यादि व्यवहार बन सकता है, तो बाह्यपदार्थों की कल्पना युक्त नहीं है। और यदि ऐसा कहो, कि ज्ञान जो उस २ आकार वाला होता है, उस २ आकार विशेष को बाह्य अर्थ ही तो उस में डालते हैं, इस लिए बाह्यअर्थ की भी अपेक्षा है, तो इस का उत्तर यह है, कि बाह्यअर्थ के अभाव में ज्ञान में आकार विशेष स्वप्नज्ञान की तरह बन सकते हैं। स्वप्न में कोई बाह्य अर्थ अपना आकारविशेष विज्ञान में नहीं डालता किन्तु विज्ञान के अपने ही आकारविशेष उस समय बाह्यअर्थ की तरह भासते हैं। इसी तरह जाग्रत में भी विना बाह्य अर्थ के विज्ञान के ही आकारविशेष मानने में कोई बाधा नहीं आसकती। ये आकार (वासनाएं) विज्ञान में अनादि हैं। पदार्थों में जो कार्यकारण भाव प्रतीत होता है, उसकी भी विज्ञान में वासनाएं विद्यमान हैं, इसी से मेघ से ही वृष्टि की प्रतीति होती है, स्वतन्त्र नहीं। इस प्रकार बाह्य जगत् की और उसके सारे कार्यों की सत्ता विज्ञान से अतिरिक्त कोई नहीं है॥

सहोपलम्भ नियम—अर्थात् साथ प्रतीत होने के नियम से भी अर्थ का ज्ञान से अभेद प्रतीत होता है। जैसे अश्वितारे दोनों सदा इकट्ठे रहते हैं, पर हैं भिन्न २। इस लिए एक के मेघ से ढक जाने पर दूसरा अकेला भी देखा जाता है। पर

रोग से जो दूसरा चन्द्रमा दीखता है, वह कभी अकेला नहीं दीखता, एक (असली) चन्द्रमा के साथ ही दीखता है, इस लिए वह दूसरा चन्द्रमा पहले चन्द्र से अलग नहीं है। इसीप्रकार अर्थ कभी अकेला प्रतीत नहीं होता। जब प्रतीत होता है, ज्ञान के साथ प्रतीत होता है। यदि अर्थ ज्ञान से अलग होता, तो कभी अकेला भी प्रतीत होता, जैसे अश्वितारा, पर अर्थ कभी ज्ञान से अलग अकेला प्रतीत नहीं होता इस लिए यह ज्ञान से अलग है ही नहीं, जैसे कि दूसरा चन्द्र पहले चन्द्र से। सो जब बाह्य जगत की ही कोई सत्ता नहीं, तो प्रकृति के मानने की तो चर्चा ही क्या। केवल विज्ञानधारा ही एक सद्वस्तु है, और कुछ नहीं॥

उत्तरपक्ष—विज्ञान आत्मा का धर्म हो सकता है, न कि आत्मा। हमें जो अनुभव होता है,वह यह है कि 'मैं जानता हूं' न यह कि "मैं ज्ञान हूं"। इससे 'मैं' अर्थात् आत्मा ज्ञानवान् सिद्ध होता है, और ज्ञान उसका धर्म सिद्ध होता है। और 'मैं जानता हूं' यह प्रतीति कोई अनुमान से नहीं होती, यह मानस प्रत्यक्ष है, इस लिए इस पर विचार ही नहीं चल सकता, कि आत्मा ज्ञान है, वा ज्ञानवान् द्रव्य है। जो अनुभव 'मैं' की सत्ता को सिद्ध करता है, वही 'मैं' को ज्ञानवान् सिद्ध करता है, न कि ज्ञानरूप।

किञ्च—विज्ञान क्षण २ में बदलता जाता है, पर 'मैं' की प्रतीति उन सब विज्ञानों में एकरस बनी रहती है। मैं देखता हूं, मैं सुनता हूं, मैं सूंघता हूं, मैं सोचता हूं: मैं समझता हूं, इन भिन्न २ ज्ञानों में 'मैं' एकरस प्रतीत होता है। सो जैसे बाह्य जगत् में यह नियम पाया जाता है, कि द्रव्य के धर्म बदलते हैं,

धर्मी द्रव्य सब अवस्थाओं में एकरस रहता है, अवस्थाएं सब उसी का प्रकाश होती हैं। इसी प्रकार यहां भी 'मैं' के धर्म (ज्ञान, सुख, दुःख, प्रयत्न, इच्छा, द्वेष) बदलते हैं, मैं = आत्मा इन सब अवस्थाओं में एकरस रहता है, अवस्थाएं सब उसी का प्रकाश होती हैं, सो प्रत्यक्ष अनुभव के अनुरोध से आत्मा विज्ञानवान् माना जासकता है, न कि विज्ञानधारा रूप॥

विज्ञान धारा को आत्मा मानने में कई प्रकार की अव्यवस्थाएं भी प्राप्त होती हैं। एक पुरुष विद्या वा शिल्प का इस लिए अभ्यास करता है, कि वह इस से लाभ उठायगा। पर विज्ञानधारा में तो अभ्यास करने वाली विज्ञान व्यक्ति परिश्रम कर के ही चली गई, वह कभी मुड़कर न आयगी, लाभ उठाना तो दूर, किसी को लाभ उठाते देखना भी उस के भाग्य में नहीं आयगा। लाभ कोई और ही विज्ञानव्यक्ति आ उठायगी, जिस ने कोई परिश्रम नहीं किया। यदि कहो कि उसी विज्ञान की सन्तति में से किसी ने आकर लाभ उठाया है, और अपनी सन्तान की भलाई के लिए कष्ट सहना ही चाहिये, तो इस का उत्तर यह है, कि यह बात तुम तब कह सकते थे, यदि उसने वह परिश्रम अपने सुख के लिए न किया होता, उस से तनिक पूछकर तो देखो, कि वह अपने सुख के लिए कष्ट उठा रहा है, वा इसके लिए, कि जब वह मर चुका हो, और उस के पीछे भी कई पीढियां उस की जगह खड़ी होकर चल बसी हों, तब किसी व्यक्ति को उस का फल मिल जाय। उस को तो यदि तुम्हारे आत्मतत्त्व का पता लगजाय, कि मैंने तो परिश्रम कर के ही छोड़ जाना है, फल किसी दूसरे ने ही आ उठाना है, तो वह परिश्रम ही न

उठाय। रोगी अपना दुःख दूर करने के लिए कड़वा औषध न खाय, न कटने योग्य अंग कटवाय, उस को क्या पड़ी है, कि वह ऐसा दुःख सहे, जब कि फल किसी और ने ही आ भोगना है। किन्तु ऐसा है नहीं। कौन है, जो भावी दुःखनिवृत्ति वा सुख प्राप्ति के लिए कष्ट नहीं सहता। और कष्ट भी इसी विश्वस्तहृदय से सहता है, कि उसका फल उसी ने ही स्वयं भोगना है। और फल के समय भी यही प्रतीति होती है, कि 'मैंने बहुत दिन कष्ट उठाया, पर अब मैं भला चंगा होगया हूं"। "अब मेरा रोग जाता रहा" इत्यादि। तुम्हारे लेखे तो कष्ट उठाने वाला और था, और भला चंगा और हुआ है। और जो रोगी था, वह तो रोगी ही मरा, अब यह नीरोग विज्ञान नीरोग ही उत्पन्न हुआ है। तब तुम्हारे लेखे तो रोग किसी का भी न जाता रहा। पर अनुभव तुम्हें भी ऐसा ही होता है, कि मेरा रोग जाता रहा। सो सारे जगत् के अनुभव के विरुद्ध और तुम्हारे अपने भी अनुभव के विरुद्ध यह तुम्हारा लेखा कैसे प्रमाणित हो सकता है।

किंच—धार्मिक जीवन का आधार है न्यायानुसार फल मिलना। अर्थात् जो करे, वही भोगे, और जैसा करे, वैसा भोगे। यदि पुण्य कर्म करने में कष्ट उठाय हरिदेव पर वह निरा कष्ट ही उठाकर रह जाय, और फल भोगे सुदेव। तथा चोरी करे नरेश और फल भोगे महेश, तो अनर्थ मचजाय, धार्मिकजीवन का नाम न रहे। पर विज्ञानवाद में क्या यही बात नहीं माननी पड़ती, कि करे कोई और भोगे कोई। यदि कहो, कि "हम तो विज्ञानधारा को आत्मा मानते हैं, अकेले २ विज्ञान को नहीं, अतएव जिस आत्मा ने किया, उसी ने भोगा, यह बन सकता

है"। इस से भी यह दोष दूर नहीं होता। यद्यपि धारा एक है, पर उसमें कर्म करने वाली और फल भोगने वाली विज्ञान व्यक्तियां तो एक नहीं। यह ठीक ऐसा ही है, जैसे कोई एक क्लर्क किसी का वध करे, १५ वर्ष मुकदमा चलता रहे, और उसके पीछे फांसी की आज्ञा हो, तब जो क्लर्क उसके स्थान पर काम करता हो, उसको फांसी लटकाया जाय। सो हमारे जीवन में जो धार्मिक जीवन का प्रभाव पाया जाता है, वह भी एक नित्य आत्मा के मानने पर हमें बाध्य करता है।

और विज्ञानवादी जो यह कहता है, कि बाह्य अर्थ कोई है ही नहीं। तिस पर हम पूछते हैं, बाह्य अर्थ के अभाव का निश्चय तुम ने कैसे किया, क्या बाहर के अर्थ तुम्हें प्रतीत नहीं होते इसलिए, अथवा प्रतीत तो होते हैं, पर वे बाहर प्रतीत नहीं होते इसलिए, किंवा प्रतीत तो बाहर ही होते हैं, पर उनके बाहर होने का कोई बाधक प्रमाण है इसलिए, ? मनुष्य पशु वृक्ष आदि की प्रतीति तो सर्वानुभव सिद्ध है, उसका अपलाप कौन कर सकता है। और ये सब विषय बाहर प्रतीत होते हैं, यह भी सर्वानुभव सिद्ध ही है, इसका भी अपलाप नहीं होसकता। रहा तीसरा पक्ष, कि बाहर प्रतीत होने पर भी उनके बाहर होने का कोई बाधक प्रमाण हो, सो कोई है नहीं, कभी किसी को ऐसा बाधक प्रत्यक्ष नहीं हुआ कि "ओह मैंने भूल से पर्वत को बाहर देखा था, वह तो अन्दर है"। सो जब बाह्य अर्थ की प्रतीति भी होती है, होती भी यही है, कि अर्थ बाहर है, और फिर इस का बाध नहीं होता, तब यह कहना कि अर्थ बाहर नहीं है, केवल साहसमात्र है।

शंका—जब अर्थ को बाहर मानकर भी विज्ञान को अर्था-

कार मानना ही पड़ता है, और विज्ञान को अर्थाकार मानने पर बिना बाह्य अर्थ के निर्वाह हो सकता है, तो बाह्य अर्थ के न मानने में लाघव तो है? सो लाघव के अनुरोध से ही बाह्य अर्थ का अभाव क्यों न माना जाय।

समाधान—लाघव कोई प्रमाण नहीं, जो स्वतन्त्रता से अर्थ का साधक हो, किन्तु लाघव तो केवल कल्पना में काम देता है, जैसे पृथिवी में जो आकर्षण शक्ति है, क्या वह एक है, जो हरएक पदार्थ को खींचती है, वा सोने को आकर्षण करने वाली अलग और चांदी को आकर्षण करने वाली अलग है, इस प्रकार पृथिवी में नाना आकर्षण शक्तियां हैं? जब यह प्रश्न उठे, तो हम कह सकते हैं, कि जब एक ही आकर्षण शक्ति से सब का आकर्षण हो सकता है, तो फिर लाघव से एक ही माननी चाहिये, नाना मानने में व्यर्थ गौरव है। पर जिसका आधार कल्पना पर नहीं, किन्तु अनुभव पर हो, वहां लाघव कोई शक्ति नहीं रखता। तुम्हारा काम दो इंच वृष्टि से चल जाता हो, और होजाय दस इंच, उसे तुम लाघव से दो इंच नहीं मान सकते, चाहे आठ इञ्च उस में से व्यर्थ ही गई हो। तुम नदी में स्नान कर रहे हो, ऊपर से मूसलाधार वर्षा हो रही है, तुम्हारा स्नान दोनों से होरहा है, पर हो एक से भी सकता है, क्या वहां कह सकते हो, कि लाघव के अनुरोध से मैं तो एक को ही मानूंगा। इसी प्रकार बाह्य अर्थ जो प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध हैं, लाघव उनका अपलाप नहीं कर सकता। तुम भी अर्थों के बाहर भासने से इन्कार नहीं कर सके, अतएव कहते हो, बहिर्वत् भासते हैं। किंच—ज्ञानके अर्थाकार होनेसे अर्थका अभाव नहीं होजाता, बल्कि अलग अर्थ की सिद्धि होती है, क्योंकि

अर्थ न हो, तो ज्ञान अर्थाकार कैसे हो। सूर्य का प्रकाश घटाकार तभी होता है, जब कि घट उस प्रकाश से अलग वस्तु है।

ज्ञानमें अनादि वासनाओं से काम नहीं चलता, भला समुद्रके किनारे पर सहस्रों दर्शकों का विज्ञान एक ही क्षण में समुद्राकार क्यों होता है। यदि विज्ञान में समुद्र का अनादि संस्कार ही समुद्ररूप होता, जो अपने आप कभी प्रकट होता, तो सबका एकही समय पर प्रकट न हो सकता, और न ही एक ही स्थान में प्रकट होता, किसी को बम्बई में और किसी को लाहौर में समुद्र दीखता। जहां जिस का संस्कार प्रकट होता, वहीं उसके सामने समुद्र भास जाता। यदि कहो, कि किसी निमित्त से वह संस्कार जागता है, तो हम पूछते हैं, कि वह निमित्त भी विज्ञान के अन्दर है, वा बाहर, यदि अन्दर है, तो फिर निमित्त भी अपना २ अलग होने से एक देशमें ही सबको एक ही प्रतीति होने का कोई नियामक नहीं रहता है, और यदि बाह्य निमित्त कहो, तो तुम रस्ते पर आगए, वही बाह्य निमित्त बाह्य समुद्र है।

सहोपलम्भ नियम भी अभेद का साधक नहीं होता, जैसे हर एक चाक्षुष द्रव्य प्रकाश के साथ ही उपलब्ध होता है, पर इतने से चाक्षुषद्रव्य प्रकाशरूप नहीं माना जाता, किन्तु प्रकाश को चाक्षुषद्रव्य की उपलब्धि का उपाय होने से सहोपलम्भ नियम है, इसी प्रकार ज्ञान को अर्थ की उपलब्धि का उपाय होने से सहोपलम्भ नियम पाया जाता है।

स्वप्न के दृष्टान्त से भी बाह्य अर्थ का अभाव सिद्ध नहीं होता। क्योंकि स्वप्न और जाग्रत के ज्ञानमें बड़ा भेद है। स्वप्न के ज्ञान का बाध हो जाता है, कि मिथ्या ही मुझे हाथी का ज्ञान हुआ,

वस्तुतः कोई हाथी नहीं। पर जाग्रत में देखे हाथी का बाध नहीं होता। अयथार्थज्ञान और यथार्थ ज्ञान की परख बाध अबाध ही है। सो स्वप्न ज्ञान के बाधित होने से वह अयथार्थ, और जाग्रत ज्ञान का बाध न होने से यथार्थ सिद्ध होता है।

जाग्रत में एक स्थल विशेष पर सब को एक वड़वृक्ष दीखता है। पर सोया हुआ वहीं समुद्र में जहाज़ खड़े देखरहा है, और दूसरा वहीं सोया हुआ वनको आग लगी देखरहा है। इस प्रकार इन दोनों प्रतीतियों में महान् भेद के होते हुए यह नहीं कह सकते, कि स्वप्न की भांति जाग्रत का ज्ञान भी बिना अर्थ के होता है।

किंच-जब अनुभव के विरुद्ध जाग्रत की प्रतीतियों को तुम स्वतः निर्विषय नहीं कह सकते, तब स्वप्न के दृष्टान्त से निर्विषय कहना चाहते हो। पर जो जिसका अपना स्वतः धर्म नहीं, वह दूसरे की समानता से उसका हो नहीं जाता, अग्नि जो कि उष्ण अनुभव होता है, वह दृश्यता में जल के समान होने से शीत नहीं माना जा सकता। स्वप्न और जागरित का वैधर्म्य पूर्व दिखला ही दिया है।

सिद्धान्त-इस लिए आत्मा विज्ञानधारा नहीं, किन्तु विज्ञान धर्मी एक द्रव्य है।

और जब यह निश्चित हो गया, कि आत्मा प्रकृति का परिणाम नहीं, अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है, तब यह बात भी साथ ही सिद्ध हो गई, कि वह अनादि अनन्त है। क्योंकि नियम यह है 'नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानम्'। इस से प्रकृति और आत्मा दो अनादि पदार्थ सिद्ध होगये।

वैदिकसिद्धान्त-ऋग्वेद के जिस सूक्त में सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व स्वधा (प्रकृति) का सद्भाव माना है। उसी में आत्मा

का भी सद्भाव माना है।

रेतोधा आसन् महिमान आसन्, स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् (ऋ० १०।१२९।५)

बीज डालने वाले थे, और महिमा वाले थे, प्रकृति वरे और नियन्ता परे था॥

यहां बीज डालने वालों से अभिप्राय संसारी आत्माओं से है, जिन्हों ने पूर्व कल्प में कर्म के वीज इस प्रकृति में बोये थे, और तदनुसार अब फल भोगते हैं। और महिमावालों से अभिप्राय मुक्त जीवों से हैं, जैसा कि कहा है **'यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। तेहनाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः'** यज्ञ से देवताओं ने परमात्मा की पूजा की, यज्ञ ही सनातन धर्म हैं। वे (देवता) महिमा वाले हुए निरामय पद को पागये, जहां कि पहले साध्य देवता विद्यमान हैं॥ मुक्तों के लिए जो महिमानः' शब्द यहां आया है, वही वहां है। इस लिए मुक्त आत्मा वहां भी अभिप्रेत हैं। इस प्रकार इस मन्त्रमें सृष्टिसे पूर्व संसारी और मुक्त दोनों प्रकार के आत्माओं का सद्भाव दिखलाया है, और बहु वचन से यह भी दर्शा दिया है, कि आत्मा नाना हैं।

उपनिषदों में तो आत्मा का बड़ा रोचक और सविस्तर वर्णन है, जैसाकि—

एषहि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः॥ (प्रश्न० उप० ४।९)

यह है देखने, छूने, सुनने, सूंघने, चखने, मानने जानने और करने वाला, जो कि (इस शरीर में) चेतन स्वरूप पुरुष है॥

यहां "द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता" इन पांच शब्दों से, आत्मा को ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जानने वाला,और "मन्ता बोद्धा" इन दो शब्दों से अन्तःकरण द्वारा मानने और निश्चय करने वाला, और "कर्ता" इस शब्द से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करने वाला बतलाकर, "विज्ञानात्मा" इस शब्द से चेतन स्वरूप प्रकट किया है।

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः, अथ योवेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्, अथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वाग्, अथ योवेदेदꣳ शृणवानीति स आत्मा श्रवणायश्रोत्रम्।४। अथ योवेदेदंमन्वानीति स आत्मा, मनोऽस्य दैवं चक्षुः।५। (छान्दो० उप० ८।१२।४-५)

जहां (सिर में) आकाश (हृदयाकाश) से नेत्र सम्बद्ध हैं, वहीं नेत्र का स्वामी पुरुष है। नेत्र देखने के लिए है। और जो यह जानता है, कि मैं बोलूं, वह आत्मा है, वाणी बोलने के लिए है। और जो यह जानता है, कि मैं सुनं, वह आत्मा है, श्रोत्र सुनने के लिए है। और जो यह जानता है, कि मैं सोचूं, वह आत्मा है, मन उसका दैवनेत्र है (दिव्यदृष्टि है—मन दैवनेत्र इस लिए है, कि इसके द्वारा आत्मा निरा उसी वस्तु को ही नहीं देखता, जो वर्तमान हो, स्थूल हो, और व्यवधान से रहित हो, किन्तु उसको भी जानता है, जो हो चुकी है, वा होगी, और जो सूक्ष्म है, वा दूर स्थित है, वा परदे में है)

मघवन् मर्त्यं वा इदᳫ शरीरमात्तं मृत्युना। तद-स्यामृतस्याशरीरस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठानम्।

(प्रजापति का इन्द्र को उपदेश है)

हे इन्द्र यह शरीर निःसन्देह मरने वाला है, मृत्यु से पकड़ा हुआ है। उस अमर आत्मा का घर है, जो इस शरीर से भिन्न है।

उपनिषदों में आत्मा की पहचान, शरीर इन्द्रियों और प्राणों से भेद, जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति से भेद, इत्यादि अनेक विषयों का सविस्तर वर्णन है, देखो उपनिषदों की शिक्षा भाग दूसरा।

वेदान्तदर्शन ३।३।५१–५४ में देहात्मवाद का खण्डन, २।२।२८–३२ में विज्ञानवाद का खण्डन है, और २।३।१८–४० में आत्मा का वर्णन है।

न्यायदर्शन १।१।१० में और फिर ३।१।१–२७ में आत्मा का सविस्तर निरूपण किया है और ३।२।४९–५८ में देहात्मवाद का खण्डन किया है। इसी प्रकार वैशेषिकादि में भी यथास्थान आत्मा का निरूपण और देहात्मवादादि का खण्डन किया है। सो वेद और वेदानुयायि समस्त शास्त्रों में प्रकृति भिन्न अनादि और अविनाशी चेतन आत्मा का वर्णन किया है।

मुसल्मान और ईसाइयों का सिद्धान्त—

आत्मा इस शरीर से अलग एक चेतनशक्ति है इस अंश में मुसल्मान और ईसाई वैदिकधर्म से सहमत हैं। और वे आत्मा को अविनाशी भी मानते हैं, पर वैदिक धर्मियों की न्याईं अनादि नहीं मानते। वे मानते हैं, कि आत्मा सभी परमेश्वर ने उत्पन्न किये हैं। इन दोनों धर्मों का वैदिकधर्म से यह भेद इस प्रकार वर्णन किया जासकता है, कि ईसाई और मुसल्मान यह समझते हैं, कि कोई ऐसा समय नहीं आयगा, जब हम न होंगे। हमारा

अभाव कभी नहीं होगा, हम सदा रहेंगे।" बस वे इतना ही मानते हैं। आर्य इसके साथ यह भी समझते हैं, कि कोई ऐसा समय नहीं था, जब हम न थे, हम सदा से हैं और सदा रहेंगे यही पक्ष युक्तियुक्त है, क्योंकि नियम यह है, कि जो उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। इस लिए आत्मा अविनाशी तभी ठहर सकता है, जब वह अनादि भी माना जाय।

समीक्षा—(१) 'अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती' इस नियम के अनुसार आत्मा की उत्पत्ति अभाव से तो हो नहीं सकती। प्रकृति से उत्पत्ति का खण्डन कर दिया गया है। और परमात्मा किसी का उपादान नहीं हो सकता, यह परमात्म-प्रकरण में निरूपण करेंगे। इस लिए आत्मा को स्वतन्त्र अनादि तत्त्व मानना ही युक्ति हो सकता है।

(२) जो २ उत्पत्ति वाला होता है, वह २ नाशवान् होता है, इस नियम के अनुसार आत्मा को उत्पत्ति वाला मानो, तो नाशवान् भी मानना पड़ेगा, जो कि तुम्हें अनभिमत है।

(३) बाइबल और क़ुरान में हमें कोई स्पष्ट लेख आत्मा की उत्पत्ति का नहीं मिला। प्रत्युत ऐसे वाक्य मिलते हैं, जिन से आत्मा के अनादि होने की झलक पड़ती है। जैसे—'एक समय यहोवा परमेश्वर ने आदम को भूमि की मिट्टी से रचा और उसके नथनों में जीवन युक्त श्वास फूंक दिया, इसी रीति आदम जीता प्राणी हुआ, (बाइबल, उत्पत्ति २।७) यहां जिस जीवन युक्त श्वास का फूंका जाना लिखा है, वह श्वास और जीवन पहले विद्यमान होना चाहिये, तभी 'फूंक दिया' कहना बन सकता है, अन्यथा नहीं। क़ुरान में भी सूरःबकर में आया है 'और तुम बेजान थे तो उसने तुममें जान डाली' डाली कहना

भी मुख्यवृत्ति से पहले विद्यमान वस्तु के लिए ही होसकता है। यह सत्य है, कि वाइवल और कुरान में आत्मा का वर्णन नों के वरावर है, तथापि हम यह नहीं कह सकते, कि इन में आत्मा को उत्पत्ति वाला माना है । हां मुसल्मानों और ईसाइयों में प्रचलित सिद्धान्त यही है, कि आत्मा उत्पत्ति वाला है । सर्वथा युक्तियुक्त सिद्धान्त यही है, कि आत्मा अनादि है ।

विषय-ईश्वर विचारः—

संगति—(प्रश्न) इस दृश्यमान जगत् में जो कुछ पाया जाता है, वह सब जड और चेतन इन दो वर्गों में से किसी एक में आजाता है । इन दोनों के दो मूलतत्त्व प्रकृति और जीव जब निश्चित होगये, तो अब क्या वात शेष रह गई, जिसके लिए किसी और भी मूलतत्त्व का प्रश्न उठ सकता है ? (उत्तर) अब यह वात शेष रहगई है, कि मूलप्रकृति जो इस भांति २ के कार्य रूप में परिणत हुई, और उससे बने हुए शरीरों में बैठ कर जीवात्मा उसके दृश्य देखने लगा है क्या यह आत्मा की इच्छा से वा निज शक्ति से होगया है, वा इस का कोई अन्य निमित्त भी है । क्योंकि लोक में घड़ी जाने वाली वस्तुओं से अलग एक घड़नेहार भी होता है । यदि इस विश्व का भी कोई घड़नेहार है, तो वह विश्वकर्मा एक तीसरा अनादितत्त्व सिद्ध होता है ।

संशय—जगत् में कई कार्य तो हम ऐसे देखते हैं, जो किसी कर्ता के विना कभी नहीं होते, जैसे वर्तन, कपड़े, घर आदि । और कई विना ही कर्ता के होते हैं, जैसे नदियों का बहना, आंधियों का चलना इत्यादि । इससे यह संशय उत्पन्न होता है, कि क्या यह विश्व अपने आप हुआ है, वा इस का कोई कर्ता है, और है, तो कौन है ?

पूर्वपक्ष—ईश्वर के सद्भाव में क्या प्रमाण है? प्रत्यक्ष वा अनुमान। प्रत्यक्ष तो संभव ही नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष दो प्रकार का है, बाह्य और मानस। बाह्य प्रत्यक्ष तो उसी द्रव्य का होगा, जो रूपवान् हो वा स्पर्शवान् हो, ईश्वर को तुम रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श से रहित मानते हो। यदि रूपवाला होता, तव तो सब अपनी आंखों से देख लेते, और स्पर्शवाला होता, तौ भी छूने से पता लगालेते; और उसके मानने में कोई झगड़ा ही न रहता, पर ऐसा तुम मानते नहीं, इस लिए बाह्य प्रत्यक्ष तो तुम उसका मान सकते ही नहीं। रहा मानस प्रत्यक्ष, वह भी नहीं हो सकता। क्योंकि मानस प्रत्यक्ष 'मैं' (=अपने आत्मा) का वा 'मैं' के विशेष गुणों (सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न) का ही होता है, दूसरे के आत्मा का वा उसके गुणों का अपने को प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए मानस प्रत्यक्ष भी ईश्वर में नहीं घट सकता।

अनुमान से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि कोई ऐसा कार्य इस जगत् में नहीं पाया जाता, जो विना ईश्वर के न होसके। यह जो बीज से अंकुर, अंकुर से पत्ते और पत्ते से नाली, नाली से फिर पत्ते और नाली, अन्त में गभा, गभे से सिट्टा, सिट्टे से फूल और फूल से फल उत्पन्न होता है। यह सच है, कि बीज न हो, तो अंकुर नहीं होता, बीज हो ही तो अंकुर होता है, इसी प्रकार फल पर्यन्त कार्य कारण भाव का नियम है। पर इस उत्पत्ति में बीज को ज्ञान नहीं होता, कि मैं अंकुर को उत्पन्न कर रहा हूं। अंकुर को भी ज्ञान नहीं होता, कि मैं बीज से उत्पन्न किया गया हूं, वा किया जा रहा हूं। किन्तु रासायनिक द्रव्यों के मेल से जैसा २ रासायनिक परिवर्तन होना चाहिये, वैसा २ होता चला जाता है। और यह रासायनिक परिवर्तन उन २

द्रव्यों की निज शक्तियों से होते हैं, वहां किसी चेतन अधिष्ठाता की न प्रतीक्षा होती है, न ही आवश्यकता है ।

यदि कहो, कि रासायनिक परिवर्तन के लिए किसी चेतन की आवश्यकता न हो, पर उन द्रव्यों का मेल मिलाने के लिए तो किसी चेतन की आवश्यकता है, जड़ द्रव्य कैसे जान सकते हैं, कि यहां हमारे मेल से अमुक कार्य उत्पन्न होगा, इस लिए हम सब को यहां इकट्ठे होना चाहिये, तो इसका उत्तर यह है, कि उन रासायनिक द्रव्यों का इकठ भी इकट्ठे होने के कारणों से होता है । मिट्टी में मिले हुए बीज को अङ्कुर रूप में परिणत होने के लिए जो जल वायु और प्रकाश की आवश्यकता है, वे अपने ही कारणों से वहां इकट्ठे होते हैं । वायु प्रत्येक स्थान में स्वभावतः बहता रहता है, खुले स्थान में प्रकाश सर्वत्र पहुंचता ही है, पानी भी दृष्टि आदि से मिल जाता है । इन के इकट्ठा करने में भी तो कहीं चेतन कर्ता की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । मेल भी तो अपने दृष्टकारणों से सिद्ध हो जाता है, और जहां नहीं होता, वा होकर भी नष्ट होजाता है, वहां सूखी भूमि में बीज फूटता ही नहीं, औ फूटा हुआ भी जल के अभाव से सूख जाता है । इससे निश्चित है, कि इनकी उत्पत्ति और वृद्धि के लिए तो सिवाय प्रकृति के किसी अन्य कारण की आवश्यकता नहीं। अब प्रश्न यह रह जाता है, कि पृथिवी सूर्य आदि की उत्पत्ति के लिए भी किसी चेतन कारण की आवश्यकता है वा नहीं । इसका उत्तर यह है, कि प्रकृति अनादि है ही, सो रचना से पूर्व अनन्त आकाश में छोटे २ अणुओं के रूप में फैली हुई थी। वे अणु आपस में मिले, और ये सूर्य पृथिवी आदि उत्पन्न हो गये । और यदि यह कहो, कि अपने आप मिल कैसे गये,

तो इसका उत्तर यह है, कि जिस प्रकार ये अनादि हैं, उसी प्रकार उनका स्वभाव भी अनादि है, क्रिया करना प्रकृति का स्वभाव है, इसलिए अणु अपनी स्वभाव सिद्ध क्रियाओं से एक दूसरे के निकट हुए, और रासायनिक शक्ति से आपस में मिलगये। और फिर जिन शक्तियों से भांति २ की सृष्टि रचना हुई, वे नियम भी प्रकृति में ही पाये जाते हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है, कि ये नियम भी स्वाभाविक हैं, वा ईश्वर के उत्पन्न किये हुए हैं। इन में से यदि पहली बात मान ली जाय, तो फिर ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रहती। और प्रकृति के विषय में यह निश्चित हो चुका है, कि ये नियम प्रकृति में स्वाभाविक हैं, क्योंकि प्रकृति कभी इन नियमों से शून्य नहीं पाई जाती। इन सारी बातों को स्वीकार करने के पीछे कहीं भी कोई आवश्यकता किसी अलग चेतन कर्ता की नहीं पड़ती। अणु अनादि हैं, उनमें क्रिया अनादि है, क्रियाओं से उन में संयोग होते हैं, संयुक्तद्रव्यों में क्रिया बनी रहती है, उस से उन में भांति २ के संयोग होते २ भांति २ के लोक उत्पन्न होजाते हैं, लोकों में जो इन्हीं द्रव्यों की बड़ी २ शक्तियां काम करती हैं, उन के कारण मेघ, वृष्टि नदियां, पर्वत और भांति २ के परिवर्तनों में से होकर भांति २ के शरीर बन जाते हैं। यह सब कुछ इनके अपने ही प्रभाव से होता है, बाहर से कोई चेतनशक्ति इन पर कोई प्रभाव नहीं डालती। सृष्टि रचना के लिए प्राकृतनियम और परमेश्वर इन दोनों में से केवल एक की आवश्यकता है, सो जब प्राकृत नियम अनुभव और परीक्षा से अटल सिद्ध हो चुके हैं, तब उनका तो अपलाप हो नहीं सकता, तो फिर क्यों व्यर्थ एक और तत्त्व की कल्पना की जाय।

केवल इतना ही नहीं, कि ईश्वर के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत उसके मानने में कई आक्षेप उत्पन्न होते हैं, जैसे:—

(१) इस सृष्टि में कई भूलें हैं, पृथिवी कहीं ऊंची है, कहीं नीची है, कहीं निरी रेत ही रेत है। सोने जैसी बहुमूल्य वस्तु को गन्ध से शून्य उत्पन्न किया है, ऐसी ही भूलों को देख कर कवि ने कहा है:—

'गन्धःसुवर्णे फलमिक्षुदण्डे नाकारि पुष्पं खलु-चन्दनेषु। विद्वान् धनाढ्यो नतुदीर्घजीवी धातुःपुरा कोपि न बुद्धिदो भूत्'

विधाता (ब्रह्मा) को आदि में मत देने वाला कोई न हुआ देखो सोने में तो सुगन्ध नहीं उत्पन्न किया, (करता, तो कुण्डल धारियों को यही सदा गुलाब का भी काम देता) ईखपर फल नहीं लगाया (लगाता, तो कितना मीठा होता) चन्दन पर फूल नहीं लगाया (लगाता तो कितना सुगन्धित होता) विद्वान् को धनाढ्य और दीर्घजीवी नहीं बनाया (बनाता तो कितना भला होता)। ऐसी दुर्व्यवस्था के काम बुद्धिमान के नहीं होते।

(२) डार्विन के विकास वाद ने सिद्ध कर दिया है, कि सारी सृष्टि अत्यन्त क्षुद्र अवस्था से उन्नति करते २ वर्तमान अवस्था तक पहुंची है, मनुष्य भी पहले अतीव क्षुद्र जाति का जन्तु था, जो उन्नति करते २ बन्दर तक पहुंचा और फिर एक दो सीढियां और ऊपर चढ कर मनुष्य बनगया। ऐसी अवस्था में कैसे अनुमान किया जा सकता है, कि इस का बनाने वाला सर्वज्ञ और और सर्वशक्ति है।

(३) जगत को ऐसे भयंकर जन्तुओं से भर दिया है, जो

दूसरों को कष्ट और दुःख पहुंचाने में ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। भला ऐसे सृष्टिकर्ता की दया का कौन आदर कर सकता है, जब कि एक जीव दूसरे को खा रहा है, और एक २ जीव अपनी छोटी सी आयु में सहस्रों जीवों को प्राणकष्ट पहुंचता है।

मनुष्यों में भी प्रबल मनुष्य दुर्बलों और प्रबल जातियां दुर्बल जातियों को सदा सताती चली आई हैं। इतिहास बतलाता है, कि ऐसे २ अत्याचार प्रबल मनुष्यों और जातियों ने निरपराध दुर्बलों पर किये हैं, कि उन का नाम लेने से रोंगटे खड़े होते हैं।

यदि यह कहो, कि इन विपद्ग्रस्तों को परलोक में उन के कष्ट का बदला मिल जायगा, तो भी इस आक्षेप का उत्तर नहीं मिलता कि हमें ऐसी आशा रखने का क्या अधिकार है, कि परिपूर्ण, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वर वर्तमान की अपेक्षा भविष्यत् में हमारे साथ अच्छा वर्ताव करेगा, क्या उस समय परमेश्वर में अधिक शक्ति आजायगी, क्या उस की कृपा अपनी दीन प्रजा के लिए अधिक उन्नति कर जायगी।

(४) सहस्रों मनुष्य स्वभावतः क्रूर, कठोर हृदय, अत्यन्त निर्दय, दुष्ट, धूर्त और विषयी होते हैं। ऐसी अवस्था में क्योंकर अनुमान हो सकता है, कि एक बुद्धिमान् इस प्रकार के मनुष्यों का उत्पन्न करना उचित समझता है, यदि यह कहो, कि परलोक में उन को दण्ड मिलेगा, तो इस से यह आक्षेप दूर नहीं होता, क्योंकि वस्तुतः प्रश्न यह है, कि ऐसे मनुष्यों को उत्पन्न करने की आवश्यकता ही क्याथी, उत्पन्न करना और फिर उन को परलोक में दण्ड देना इस से क्या लाभ, यदि परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्ति है, तो उस को केवल धर्म सचाई सरलता ही

उत्पन्न करनी चाहिये थी, झूठ, पाप, ठगी, ईर्ष्या, द्वेष, असूया, मात्सर्य, क्रूरता, निर्दयता, के उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी। और वह सर्वशक्ति और सर्वज्ञ है, तो मनुष्य को पाप के करने से रोक क्यों नहीं देता। क्या राजा को यदि यह मालूम हो जाय, कि अमुक पुरुष हत्या करने चला है, तो वह उस को रोकना अपना कर्तव्य नहीं समझेगा। इन सारी बातों से यही अनुमान होता है, कि कोई सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर इस जगत का अधिष्ठाता नहीं है, अपितु केवल प्राकृत नियम हैं, जिन के अनुसार सृष्टि का प्रवाह चल रहा है, और बिना किसी प्रयोजन और उद्देश्य के जो कुछ होता है, हुआ जाता है। प्रकृति अपने अटल नियमों के अनुसार भांति २ की आकृतियां बनाती और बिगाड़ती रहती है; न इस को हर्ष है न शोक हर्ष शोक, जीवन मरण, हंसी आंसु सब इस के निकट एक समान हैं, इस में कोई दया नहीं, न तुम्हारी स्तुति से वह प्रसन्न होती है, न तुम्हारे आंसु गिराने से इसका मन पसीजता है। यह ऐसी प्रकृति ही इस जगत की कर्त्री हर्त्री है, इस के ऊपर और कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्ति न्याय कारी दयालु अधिष्ठाता नहीं।

परमेश्वर के सद्भाव का मन्तव्य निर्मूल है, परमेश्वर सृष्टि और मनुष्यों को नहीं बनाते, प्रत्युत मनुष्य परमात्मा को बनाते हैं, जिस की कि कोई परमार्थ सत्ता इस जगत में है नहीं।

उत्तरपक्ष—यह सत्य है, कि प्रकृति और उस के नियम अनादि हैं, पर अन्धी प्रकृति के अन्धे नियमों से जगत की ऐसी अद्भुत रचना, जो हम देखरहे हैं, हो नहीं सकती। मक्खी के एक पंख की रचना देखकर भी मनुष्य चकित रह जाता है, क्या फिर उस के सारे शरीर की रचना। जहां ऐसे क्षुद्र

शरीर में इतनी अद्भुत कारीगरी पाई जाती है, कि बड़े २ चिन्तनशीलजन भी देखकर विस्मयान्वित होजाते हैं, वहां इतनी महती सृष्टि की रचना विना किसी नियन्ता के निरे अन्धे नियमों से अपने आप हो गई है, यह कथन साहसमात्र है। क्या? तुम इस बात के मानने को तय्यार हो, कि मिट्टी पत्थर लकड़ी और लोहा तो भूमि में हैं ही, और जिन नियमों से वे ईंट चूना, तख्ते और गाडरों के रूपमें परिणत होते हैं, वे अटल नियम भी उन में हैं ही, तो अब इस अन्धी सामग्री और उसके अन्धे नियमों से अपने आप ईंट चूना तख्ते और गाडर बनते रहते हैं, और फिर ईंट चूने तख्तों और गाडरों के यथास्थान लग २ कर बड़े २ प्रासाद अपने आप बनते रहते हैं, और फिर उसी तरह यथास्थान और नए २ प्रासाद बन २ कर गली महल्ले बाज़ार बन २ कर बड़े २ नगर अपने आप बनते रहते हैं। यदि यह तुम्हें असम्भव प्रतीत होता है, तो हम पूछते हैं, क्यों? क्या इस लिए, कि ऐसा बनने की सामग्री में ऐसा रूप धारने के नियम नहीं हैं। यदि हैं, तो तुम्हारे लेखे अब कोई त्रुटि नहीं है, यह सब कुछ हो जाना चाहिये। पर होता नहीं, क्यों? इसका उत्तर दो, उत्तर यह है, कि अन्धे तत्त्वों और उनके अन्धे नियमों से उलट फेर तो होते रहते हैं, पर ऐसी सुव्यवस्थित रचना जैसी कि प्रासाद और नगर, निरे जड़ नियमों से हो नहीं सकती, ऐसी व्यवस्थित रचना तो किसी सिद्धहस्त शिल्पी से ही होसकती है। अब हम पूछते हैं, कि क्या हमारे शरीरोंकी रचना ईंटचूने आदि से बने प्रासाद की भी बराबरी नहीं कर सकती? प्रासाद तो उसके सामने कोई कारीगरी ही नहीं, फिर तुम किस तरह कह सकते हो, कि यह रचना बिना शिल्पी के निरे प्राकृत नियमों से हो

गई हैं। भेद तो दोनोंमें यही है न, कि घरके बनाने वाले शिल्पियों को तो तुम घर बनाते अपनी आंखों से देखते रहते हो, पर जगत् रचने वाले शिल्पी को तुम्हारी आंखें कभी नहीं देखतीं आंखों से न दीखना ही तुम्हें ऐसा कहने का साहस देता है, कि यहां कोई शिल्पी है ही नहीं। नहीं तो, क्या रचना है एक घर की, एक शरीर की रचना के सामने, शरीर क्या, शरीर के अन्दर जो एक छोटी सी आंख है, उसकी रचना के भी सामने। तुम स्थूल दृष्टि से नहीं, तह में पहुंचने वाली दिव्य दृष्टि से देखो, तो एक २ रोम तुम्हें मानों वक्ता बन कर कहेगा, कि मेरा सिरजनहार एक पूरा शिल्पी है। सो ऐसी अद्भुत रचना जो एक छोटे से जीव में पाई जाती है, जब वह भी हमें एक चेतन सिरजनहार का पता देती है, तो क्या फिर एक दूसरे से बढ़ी चढ़ी और असंख्यात शरीरों की रचनाएं, बिना चेतन अधिष्ठाता के सम्भव हो सकती हैं।

यहां तक तो हमने व्यष्टि रचना का विचार किया, पर जब समष्टि रचना अर्थात् इस सारे विश्व के यथा स्थान स्थिति और यथा योग्य प्रवृत्ति की ओर ध्यान देते हैं, तो हमें इस विश्व का प्रबन्धकर्ता विश्व में सदा सदा उपस्थित रहकर प्रबन्ध करता हुआ प्रत्यक्षवत् भासता है। देखो, कैसे अद्भुत प्रबन्ध के अन्दर सृष्टि के भिन्न २ अंग मिलकर एक प्रयोजन के लिए काम कर रहे हैं।

१—जैसे जंगल में भूख की निवृत्ति चाहते हुए पुरुष की आंखें फल का पता लगाती हैं, टांगें वहां पहुंचाती हैं, हाथ उसे तोड़कर मुंह में डालते, दांत चबाते हैं, गला उसे निगल जाता

है, भूख की निवृत्ति हो जाती है। यहां सब भिन्न २ अंगों ने मिलकर एक प्रयोजन के लिए काम किया है। इस प्रकार भिन्न २ अंगों का मिलकर एक प्रयोजन के लिए काम करना विना किसी चेतन अधिष्ठाता के नहीं हुआ करता, यहां सब अंगों ने एक ही अध्यक्ष की प्रेरणा में काम किया है, इस लिए सब की प्रवृत्ति एक ही प्रयोजन को साधने वाली हुई है। इसी प्रकार देखो, बच्चा जब जन्मता है, तब उसको दूध की आवश्यकता है, उसके विना उसका जीवन नहीं रह सकता, सो उसी समय माता के थनों में दूध तय्यार होगया है। पर यह दूध भी निष्फल रहता, यदि बच्चे में चूसने की शक्ति न होती,*पर देखो,कैसा अद्भुत प्रबन्ध है, कि इधर माता की छाती में दूध आगया, उधर बच्चे में चूसने की योग्यता आगई। न माता ने यह दूध बनाया है, उसे तो पता ही नहीं, कि कैसे बन गया, और न ही बच्चे ने चूसने की शक्ति स्वयं उत्पन्न की है, यह उसको मिली है। इस प्रकार माँ और बच्चा दोनों एक प्रयोजन (बच्चे के जीवन की स्थिति) के लिए प्रयुक्त किये गये हैं, और इनका प्रयोजक इन दोनों से अलग है, जो इस प्रयोजन को समझने और साधने की शक्ति रखता है।

---

*यदि कोई ऐसी कुतर्क करे कि यह शक्ति न होती तो हम अपने हाथों से उसके मुंह में डालते, तो उसे उत्तरदो, कि इसी से जानलो, कि तुम्हारे बच्चों की जीवनरक्षा निरी तुम्हें ही अभीष्ट नहीं, कोई और भी उसका रखवाला है जिसने तुम्हारी इस बेसमझी के भरोसे पर बच्चे को नहीं छोड़ दिया। तुम उसके मुंहमें दूध डालते, पर किस समय, क्या जब उसे भूख होती वा जब तुम चाहते। और यह भी, कि तुमने तो एक अपने बच्चे का ध्यान कर के कहने का साहस करदिया पर उस रखवाले ने तो बनों में बन पशुओं के भी बच्चे पालने हैं॥

१—इस पृथिवी पर की स्थावर जंगम प्राणिसृष्टि में एक और ही प्रकार का अद्भुत सम्बन्ध पाया जाता है। वायु जो इस पृथिवी पर है, इस में बहुत बड़ा भाग औक्सीजनगैस है और थोड़ा सा भाग कार्वानिक ऐसिडगैस है। जब हम सांस लेते हैं, तो हमारे फेफड़ों में जाकर वायु का औक्सीजन हमारे जीवन की उष्णता (अग्नि) बनाने में खर्च होता है, और जो वायु हम बाहर निकालते हैं, उस में कार्वानिक एसिडगैस बढ जाता है। यह वायु हमारे फिर सांस लेने के लिए दूषित होता है, जो हमारे जीवन का नाशक है। अब थोडे से सांस छोडने में तो इतने बड़े वायु में कोई भेद नहीं आयगा, पर जब सभी प्राणधारी लगातार सांस लेकर वायु को दूषित करते रहते, तो समष्टिवायु के जीवन नाशक बनजाने में क्या संदेह रहता। पर ऐसा होता नहीं, क्यों? इस लिए, कि वृक्ष और पौदे उसी वायु से अपने तनों और पत्तों के पोषण के लिए कार्वन तो चूस लेते हैं और औक्सीजन को बाहर निकाल देते हैं, इस ढंग से स्थावर और जंगम सृष्टि एक दूसरे के पालन पोषण में लगी हुई प्रतीत होती है। जंगम प्राणी (मनुष्य पशु पक्षी) तो सदा सांस लेने से कार्वनिक ऐसिड को अपने अन्दर से निकाल करके वायु को दूषित करते रहते हैं और वृक्ष और पौदे इस को अपने अन्दर लीन कर लेते हैं, और उस की औक्सीजन को अपने पत्तों के द्वारा निकाल कर वायुको शुद्ध करते रहते हैं। इस प्रकार जितनी वायु दूषित होती है, फिर उतनी ही शुद्ध हो जाती है। इस अद्भुत प्रबन्ध में वायु की तकड़ी के दोनों पलड़े बराबर तुले रहते हैं और हम पौदों की रक्षा के लिए और पौदे हमारी रक्षा के लिए सदा काममें लगे रहते हैं।

यह बात आज कल एक यन्त्र के द्वारा प्रत्यक्ष करके दिखलादी जाती है; जिस को वाईवेरिया कहते हैं। यह एक शीशे का लोक है, जिस में बाहर की वायु बिल्कुल नहीं जाती, और ऐसा ढंग रक्खा है, कि छोटे २ जल जन्तु और जलीय पोदे उस में बढते रहते हैं। जन्तुओं से जो कार्बानिक एसिड गैस निकलती है, उसकी कार्बन को पोदे पृथक् कर के चूसलेते हैं, और वह केवल इतनी ही होती है, कि पोदे उस आहार से बढते जायें, फिर कार्बन को चूस कर पोदे जो ऑक्सीजन निकालते हैं, वह उस लोक के जल जन्तुओं के सांस लेने में काम आती है। इस प्रकार शीशे के लोक में, जो बाहर की वायु से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, अन्दर ही अन्दर स्थावर भी बढते हैं, और जंगम भी जीते हैं। अब इस अनगिनत स्थावर सृष्टि और जंगम सृष्टि की ओर दृष्टि डालो, और फिर इस प्रबन्ध को देखो, कि किस प्रकार समष्टि सृष्टि एक प्रयोजन (सृष्टि स्थिति) के लिए प्रयुक्त हो रही है, और उसे स्वयं इस प्रयोजन का कुछ पता नहीं, अत एव इस का प्रयोजक इस से अलग है, जो इस प्रयोजन के लिए उसे प्रयुक्त कर रहा है।

३–ऐसा ही सम्बन्ध बाह्यजगत और आभ्यन्तर जगत में है। बाहर सुरीले शब्द हैं, उनको अन्दर पहुंचाने के लिए कान के टैलीफून हैं। यह शब्दसृष्टि सब निष्फल होती, यदि शरीरों में कर्णसृष्टि न होती, और कर्णसृष्टि यूंही व्यर्थ बनी कही जाती, यदि बाहर शब्दसृष्टि न होती। इसी प्रकार रूपादि और नेत्रादि की सृष्टि को जानो। इस दो प्रकार की सृष्टि से हर एक प्राणी को यह कहने का अवसर है, कि मानो यह सारी सृष्टि मेरे लिए रची गई है। इस इतनी बड़ी सृष्टि को एक छोटा

सा प्राणी भी उपभोग कर सके, इसके लिए ऐसा अद्भुत प्रबन्ध क्या अकस्मात् होगया, यह बात बुद्धि नहीं मान सकती । वस्तुओं की उत्पत्ति में भी ऐसा ही सम्बन्ध पाया जाता है । एक घास का तिनका उत्पन्न करने में भी मिट्टी जल वायु-सूर्य आदि सब अपने २ गुणों और कर्मों से उसमें भाग लेते हैं ।

४-प्रबन्ध का राज्य यहीं तक समाप्त नहीं होजाता, वह परे से परे तक दीखता है । यह सौर जगत् जिसका व्यास अन्तिम ग्रह तक ९ अर्ब ३० करोड़ योजन (=५९ अर्ब १८ करोड़ मील) है । जिस में बुध शुक्र पृथिवी आदि ग्रह अपने चन्द्रमाओं सहित सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं ? इतना बड़ा सौर जगत् एक ऐसी मर्यादा में चल रहा है, जिससे कहीं कोई गड बड नहीं होने पाती । और फिर अर्बों खर्बों बरसों के लिये यह प्रबन्ध एकरस बना रहने वाला है । अन्धी प्रकृति के कार्यों में यदि योगसे कभी मर्यादा भी प्रकट हो जाती, तो वह मर्यादा टूटते देर भी न लगती । यह हो नहीं सकता, कि अन्धी प्रकृति में योग से एकबार ऐसा सुप्रबन्ध प्रकट होजाय, और फिर वह स्थिर बना रहे । अस्तु, अब इस सौर जगत् को समष्टि विश्व के प्रबन्ध के साथ मिलाकर देखो, तोऔर भी चकित होजाओगे । देखो यह पृथिवी छोटी नहीं, बहुत बड़ी है, जिसके एक चौथाई भाग से भी थोड़े भाग पर कई राज्य हैं । पर इसी पृथिवी की भांति सूर्य के चारों आर घूमने वाला शनि हमारी पृथिवी से ७३९ गुना और बृहस्पति १४ १४ गुना बडा है। सूर्य हमारी पृथिवी से इतना बडा है, कि यदि उसके किनारों का डल रहने देकर बीच में से खोखला कर दिया जाय, और उसमें हमारी पृथिवी के बराबर की पृथिवियां डाली जायँ, तो चौदह

लाख पृथिवियां उसमें समा सकती हैं, और अगस्त्य तारा सूर्य से इतना बडा है, कि यदि इसी प्रकार उसको खोखला करके उसमें सूर्य डाले जायँ, तो एक करोड सूर्य उसके गर्भ में समा सकते हैं। यह रात को दीखने वाले नक्षत्र जो छोटे २ ज्योति के फूल दिखाई देते हैं, सूर्य से कई गुना बड़े २ हैं, अति दूर होने के कारण इतने छोटे दीखते हैं। जो नक्षत्र सौर जगत् से बहुत समीप हैं, वे भी इतनी दूर हैं, कि उस दूरी के मण्डल में ७ खर्ब ६६ अर्ब सौर जगत् समा जावें। दीखने वालों में भी इससे कई गुना दूरी के परे नक्षत्र भी है, और उन से परे ऐसे हैं, जो विना दूरवीक्षण के दीखते ही नहीं। उन की दूरी का लेखा तो अंकों में लगा ही नहीं सकते। दूरवीक्षण भी जितनी उत्तम से उत्तम बनती चली गई है, वह आगे ही आगे ब्रह्माण्ड का पता देती गई है। ब्रह्माण्ड तो और भी आगे खुलेगा, और मनुष्य कभी उसका अन्त न पायगा। देखो यह अपार ब्रह्माण्ड ऐसे सुप्रबन्ध से अपना काम कर रहा है, और प्रबन्ध को बिगडने नहीं देता, कि या तो इसी को चेतन मानों, या फिर इसके अन्दर एक चेतन अध्यक्ष माने विना गति नहीं। बड़े राज्य की अपेक्षा छोटे से राज्य का और उसकी भी अपेक्षा एक घर का प्रबन्ध सुगम होता है। पर वह भी किसी साधारण बुद्धि वाले पुरुष से जब नहीं हो सकता, तो ध्यान करो, इस अपार ब्रह्माण्ड के राज्य की ओर, क्या यह इतने अपार राज्य का ऐसा सुप्रबन्ध पुकार २ कर नहीं कह रहा, कि मेरा भी कोई संचालक है, जो कि सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है।

उपर्युक्त सारे का सारांश यह है, कि किसी प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर पदार्थों का विन्यासविशेष (खास तरतीब)

रचना कहलाती है। प्रयोजन जड में होता ही नहीं, यह चेतन का ही धर्म है। इसलिए जहां रचना पाई जायगी, वहीं चेतन कर्ता होगा। अब देखो घडी की बनावट में रचना है, वहां चेतन कर्ता है। घर की बनावट में, कपडों की बनावट में, जहां कहीं बनावट में रचना है, वहां अवश्यमेव चेतन कर्ता है। इसी प्रकार अलग २ पदार्थों के रखने में भी रचना होती है। रसोई में वर्तन अपने २ स्थान पर रक्खे गये हैं, वह उनकी रचना है। वहां चेतन कर्ता है। दुकानदारों की विक्रेय वस्तुओं में रचना है, वहां चेतन कर्ता है। कारखानों के चलाने वाले ऐंजन और दूसरे अंगों के अपने २ स्थान पर लगाने में रचना है, वहां चेतन कर्ता है। निदान रचना चाहे बनावट में हो, चाहे स्थापना में, विना चेतन कर्ता के कभी नहीं होती। इसलिए यह व्याप्ति निश्चित होगई, कि सब रचनाएं चेतनकर्तृक होती हैं। तब यह अनुमान प्रयोग प्रवृत्त होता है।

'सब रचनाएं चेतन कर्तृक होती हैं।

(प्राणधारियों के) शरीर रचनामय हैं।

इस लिए (प्राणधारियों के) शरीर चेतन कर्तृक हैं।

इस अनुमान से सिद्ध हुआ, कि शरीरों का बनाने वाला कोई चेतन है। अब वह चेतन हमतो हो नहीं सकते। न माता न पिता कोई नहीं जानता, कि उन के पुत्र का शरीर कैसे बन रहा है। अत एव इन का बनाने वाला चेतन आत्मा से अलग सिद्ध होता है, उसी का नाम परम आत्मा है।

शरीरों की भांति भूमण्डल आदि भी रचनामय हैं, इन को लेकर भी वैसे ही अनुमान प्रयोग करना चाहिये।

(शंका) यह अनुमान व्यभिचारी है, क्योंकि तृण ओषधि वनस्पति रचनामय हैं, पर उन का कोई चेतन कर्ता नहीं।

समाधान—अनुमान तो 'है' सिद्ध करता है, तुम नहीं कैसे कहते हो?

शंका—दीखता नहीं इस लिए?

समाधान—दीखता नहीं, तभी तो अनुमान ने पता लगाया है, नहीं तो आंख ही न पता लगा लेती। देखो? भूमि में दबे हुए जो नगर खोद कर निकाले गये हैं, उन की बनावटों से उस समय के शिल्पियों की योग्यता मापी जाती है, जिन को सहस्रों वर्ष बीतगये हैं। उन को बनाते न तुमने देखा, न तुम्हारे पिता प्रपितामह ने, न उनमें कोई जन रहता हुआ मिला, जिस से परम्पराश्रुति का ही पता लगे, फिर क्या वहां उनके कर्ताओं से इन्कार हो सकता है, जब कि प्रत्यक्ष के न होने पर भी अनुमान आकर कह रहा है, कि इन के बनाने वाले बड़े उत्तम शिल्पी थे। इसी तरह यहां भी अनुमान प्रत्यक्षवत् पता दे रहा है। फिर इस में व्यभिचार कहां?

शंका—अच्छा तो अब उन आक्षेपों का समाधान कर दीजिये, जो पूर्व पक्ष में ईश्वर सिद्धि के विरुद्ध किये गये हैं।

समाधान—जब अनुमान निराबाध प्रवृत्त हो गया, तो ईश्वर की सिद्धि निःसंदेह होगई। अब आक्षेप उस की सिद्धि को नहीं रोक सकते, क्योंकि यह तो नहीं हो सकता, कि ईश्वर हो भी, और न भी हो। दोनों में से एक ही हो सकता है। जब 'है' निराबाध सिद्ध हो गया, तो 'नहीं है' सर्वथा उड़गया। तथापि आक्षेपों का परिहार किया जाता है।

(१) पृथिवी ऊंची नीची होने में क्या भूल हुई? क्या सारी पृथिवी समतल होती? और समुद्र तथा झीलें बड़े गहरे गढ़ों में न रह कर समतल भूमि के कई गज ऊपर २ घूमते।

और कहीं रेत ही रेत की तो बहुत अच्छी कही. तुम्हारे घर में भी तो एक जगह निरी भस्म ही भस्म होती है, इस लिए तुम्हारी रसोई का बनाने वाला चेतन नहीं। 'गन्धः सुवर्णे' इत्यादि का उत्तर यह है कि जो सोने में गन्ध होता तो आपकी सारी कमाई कुंडल ही खाजाते, जब कि दिनभर में दो मासे उड जाते. क्योंकि उडे विना गन्ध कैसे आता। और सुनार के घर पड़े यदि महीना बीत जाता, तो दुवारा ही लेकर देना पड़ता, भूषण भी कर्पूरी माला की तरह ही बनते, और आग के तो एक ही तात्र में सोना जो वायुमण्डल में होते। ईख सारा ही मीठे की तरह रस से भरा है, सारा ही फल है, उस पर और फल क्या होता। और क्या जवार के गन्ने में मीठा रस नहीं होता, फिर क्या उसका फल अधिक मीठा होता है। यह तो कवियों की मनोरंजक कल्पनाएं हैं, जो खाली समय में सूझती हैं, यह कोई शंकाएं नहीं॥

(२) डार्विन का विकासवाद अभी तक विद्वानों में विवादास्पद है, फिर उस को सिद्धवत् माना ही कैसे जासकता है। और सिद्धवत् मानने पर भी यह पक्ष ईश्वर सिद्धि का बाधक नहीं, साधक ही है। यह आक्षेप, कि यदि ईश्वर सर्वशक्ति होता, तो सृष्टि को क्रमशः उत्पन्न क्यों करता, एक बेसमझी का आक्षेप है। अत्यन्त साधारण से ले कर क्रमशः उत्तमोत्तम प्राणियों की सृष्टिरचना तो, न केवल रचना से, किन्तु ऐसे अद्भुत क्रम से भी, सर्वज्ञ सर्वशक्ति कर्ता को जितलाती है। मनुष्य का बीज जिस प्रकार धीरे २ बढने लगता, उस में रुधिर मांस चर्बी हड्डी आदि और भिन्न २ अंगों की उत्पत्ति होती, सारे अंगों की पूर्ति होकर फिर चेष्टा उत्पन्न होती और बाहर आने के योग्य समय पर आप ही आप बाहर को प्रेरणा

होती है। इस प्रकार यह धीरे २ एक लक्ष्य की ओर चलता हुआ कार्यक्रम तो एक चेतन अधिष्ठाता का साधक है। आश्चर्य रचना तो इसी क्रम में है, यदि बिना क्रम के एक ही पल में खुंब की तरह पुरुष निकल आता, क्या तभी किसी चेतन कर्ता की आवश्यकता होती, अब नहीं। इसी प्रकार यदि शैवाल की सृष्टि से लेकर धीरे २ एक ही लक्ष्य की ओर चलती हुई सृष्टि अन्ततः मनुष्य के रूप में आपरिणत हुई है, तो यह आश्चर्यरचना निःसंदेह एक चेतन कर्ता की साधक सिद्ध होती है, यह सर्व-शक्ति के ही तो कार्य हैं, कि मट्टी जल तेज वायु को ऐसे ढंग पर डाल दिया, कि उस से भांति २ के शरीर निकल आए। सर्वशक्तिमत्ता इस में नहीं, कि अनियमित ही काम कर दिखलाय, यह कोई गुण की बात नहीं, प्रत्युत अवगुण की है। सर्वशक्तिमत्ता यही है कि वह आश्चर्य से आश्चर्य काम कर दिखलाता है, और अपने काम में किसी की सहायता नहीं लेता।

विश्व-परिणाम (ऐवोल्यूशन) वाद के अनुसार उत्कर्ष की प्रत्येक अवस्था का बाहरी सत्ता के साथ सम्बन्ध रहा है, बाहर के जगत् में ज्योति के होने से आंख, और शब्द के होने से कान उत्पन्न हुए हैं, बालक की जरूरतों ने माता के प्यार को उत्पन्न कर दिया। इसी प्रकार प्रत्येक अवसर पर बाहरी विद्यमान आवश्यकता के कारण भीतरी भाव प्रकटा है। प्रकृति का यही मार्ग रहा है। यह जीवन का अति गूढ नियम है। इस नियम के अनुसार मनुष्यों के आत्माओं में जो ईश्वर की ओर भाव भक्ति प्रकट हुए, इस से अवश्यमेव ऐसी सत्ता बाहर होनी ही चाहिये। जैसा कि डार्विन के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए ही प्रोफैसर जान फिस्क लिखते हैं-'इस पृथिवी के इतिहास में

में अब एक ऐसा समय था, जब प्रेम पहले से अधिक प्रकट होने लगा, सत्य और झूठ के विचार जीव के आत्मा में फूटने लगे, जब गृहस्थ का प्रादुर्भाव हुआ, जब सामाजिक सम्बन्ध दृढ़ होने लगे, जब वाक्य वायु में पक्षियों की न्याईं विचरने लगा। यह वह समय था, जब कि परिणाम (ऐवोल्यूशन) की परिपाटी एक ऊंची अवस्था को पहुंचने लगी। जब शारीरिक परिणाम में सभ्यता युक्त हुई। जब अन्तिम और सर्वोत्तम जीव (मनुष्य) रंगभूमि में प्रकट हुआ, जब सृष्टि का प्रयोजन पूर्ण होने का समय आ उपस्थित हुआ। उस समय हम क्या देखते हैं, कि मनुष्य का आत्मा अपने सदृश किसी अन्यव्यक्ति की ओर पहुंचने की चेष्टा कर रहा है, जो व्यक्ति इस दृश्यमान विकारवान् जगत् में की नहीं, किन्तु इस के पीछे एक अविनाशी रूपमें वर्तमान है॥

अब यदि मनुष्य की आदिम अवस्था में, मनुष्य के आत्मा और अदृश्य लोक में, इस प्रकार का जो सम्बन्ध उत्पन्न हुआ, उसका अन्तरीय अंग(ईश्वर को पहुंचने की चेष्टा) तो सत् हो,और वाह्य अंग असत् हो (अर्थात् बाहर कोई ऐसी सत्ता न हो) तो मैं कहता हूं, यह ऐसी बात है, जो सृष्टि के सारे इतिहास में अपना दृष्टान्त नहीं रखती। परिणाम के सारे दृष्टान्त जहां तक हम खोज लगा सके हैं, ऐसी कल्पना के विरुद्ध हैं, यह कल्पना करना, कि "अनन्त युगोंमें मनुष्य की अवस्था तक पहुंचने में तो जीवन की उन्नति बाहरी सद्भाव के अनुकूल आन्तरिक भाव उत्पन्न होने में हुई, और फिर नियम एकदम बदल गया। और अन्तिम भाव (ईश्वर का भाव) बाहरी असत् वस्तु के द्वारा हुआ" ऐसा मानना युक्ति और बुद्धि पर अत्यन्त जबरदस्ती करना है।

परिणाम की शिक्षा यह है, कि इन लम्बे युगों में मनुष्य का आत्मा धर्म के अन्दर एक भ्रम युक्त मायाजाल में नहीं पड़ा रहा, किन्तु यद्यपि आपाततः देखने में वह अनेक बार ठोकर खाता रहा और गिरता रहा है; परन्तु वस्तुतः वह एक नित्य ईश्वर के साथ अपना सच्चा सम्बन्ध पहचानने का प्रयत्न करता रहा है, (प्रकृति के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति-पृष्ठ १८९-१९१)।

और सच तो यह है, कि ईश्वर को पाने का मनुष्य का जो प्रयत्न है वह सफल भी होता रहा है, यह बात अलग प्रकरण में आयगी। यहां इतना ही अभिप्रेत है, कि विकासवाद के अनुसार भी ईश्वर की सिद्धि में कोई बाधा नहीं आती।

(३,४) तीसरी और चौथी शंका का सविस्तर समाधान कर्मफल प्रकरण में आयगा। यहां संक्षेपतः इतना जान लेना चाहिये, कि परमात्मा ने अनेक रूपों में जो मृत्यु उत्पन्न किया है; उसका एक रूप हिंस्र जीव भी हैं। और वे भोगयोनि होने से अपनी प्रकृति के अनुसार चलते हैं, अत एव पाप पुण्य के भागी नहीं! मनुष्यों में जो नीचप्रकृति के मनुष्य होते हैं, ये अपनी वासनाओं के अनुसार ऐसे होते हैं, किन्तु उन को भी जन्म जन्मान्तर में ऐसे अवसर मिलते हैं, जब कि उनकी रुचि पुण्य की ओर फिर जाती है और वे पुण्यात्मा बन जाते हैं। किन्तु परमात्मा ने आत्माओं को स्वतन्त्रता दे रक्खी है, जो कि एक बड़ी भारी दात है, इसलिए परमात्मा कर्म करने में इस की स्वतन्त्रता को नहीं छीनता, वह स्वयं ठोकरें खाकर सीधे मार्ग पर आता है, तब उस मार्ग का वह हार्दिक आदर करता है।

परमात्मा पर विश्वास का फल—

'परमात्मा है' यह ऊपर युक्ति प्रमाण से सिद्ध हो ही चुका है।

किन्तु यह भी जानना चाहिये, कि ईश्वर पर विश्वास से जो आत्मबल मनुष्य में उत्पन्न हो जाता है, वह अविश्वासी के हृदय में किसी तरह उत्पन्न नहीं होसकता । ईश्वर पर विश्वास होते ही दुर्बलता मनुष्य से परे हट जाती है। पाप उस के निकट नहीं आता और वह अधर्म पर विजय पाने में अपने आप को अकेला नहीं समझता, वह अपने उद्देश को पूरा करने में एक महती शक्ति का हाथ सदा अपने साथ देखता है, उस का हृदय उमंगों से भरा रहता है, वहां निराशता को स्थान नहीं रहता। इतना आत्मबल उस के अन्दर आजाता है, कि उस के धैर्य उत्साह साहस और कार्यसिद्धि के आगे अन्ततः विरोधी भी सिर झुका देते हैं। प्रोफैसर जेम्ज़ लिखते हैं 'जो लोग परमात्मा में विश्वास रखते हैं, उन में जीवन के दुःखों का सामना करने के लिए हर एक प्रकार की शक्ति, सहन शीलता, साहस और योग्यता उत्पन्न हो जाती है, और इसी लिए मानुषीय यत्न प्रयत्न के रणक्षेत्र में इस प्रकार का चारित्र सुखसेवी चरित्र से जीत जाता है, और धर्म नास्तिकता को हरा कर भगादेता है" ॥

वैदिक सिद्धान्त—प्रकृति और पुरुष से भिन्न एक और अनादि तत्त्व है, जो इस रचना का रचने हार है, सर्वज्ञ और सर्व शक्ति है। यह सिद्धान्त जो तर्क अनुमान से सिद्ध होता है, यही वेद का सिद्धान्त है। जैसा कि उत्पत्ति के प्रकरण में कहा है—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास (ऋग्० १०।१२९।२)

उस समय वह एक, विनावायु के जीवित जाग्रत शक्ति परमात्मा विद्यमान थी, निःसंदेह उस से परे कुछ नहीं था।

रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयातिः परस्तात् (ऋ० १० । १२९ । ५)

संसारी आत्मा थे, और मुक्त आत्मा थे, प्रकृति थी और नियन्ता (परमात्मा) परे था।

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे । तस्मिञ्छ्रयन्ते यउकेच देवाः वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः (अथर्व १०।७।३८)

एक पूजनीय बडी सत्ता इस भुवन के अन्दर स्थित है, जो ज्ञान में सब से आगे है, प्रकृति से परे है। जितने देवता हैं, सब उसी के आश्रित हैं, वह वृक्ष के उस बड़े स्कन्ध की भांति है, जिस के चारों ओर डालियां हों (अर्थात् बड़े डालकी भांति सब को थामें हुए भी है, और जीवन भी देरहा है)।

वेद में यह एक बड़े गौरव की बात है, कि जो सिद्धान्त वेद में बतलाये हैं, उनके लिए निरी प्रतिज्ञा ही नहीं की, किन्तु उन के साधक-हेतु भी साथ बतलाये हैं। ईश्वर सिद्धि में जो हमने ऊपर हेतु दिखलाये हैं, रचना और विश्व का नियमन। वे वेद में बडी सुन्दरता से वर्णन किये हैं। जैसे

सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवंचपृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः(ऋ०१०।१९०।३)

परमात्मा ने पूर्ववत ही (पहले कल्पों की न्याई) सूर्य

चन्द्र द्यौ पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर् (वायु और ज्योति के स्थानों) को रचा ।

इस मन्त्र में जहां यह बतलाया है, कि यह रचना सारी परमात्मा की रची हुई है, वहां 'पूर्ववत' कहने से यह भी दर्शा दिया है, कि परमात्मा का ज्ञान सदा एकरस रहता है। यह वर्तमान रचना ठीक उस ने उसी प्रकार रची है, जैसी कि वह अनादिकाल से रचता चला आता है

योनः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या (ऋ० १०।८२।३)

जो हमारा जन्मदाता, पालन कर्ता और धर्म का मार्ग दिखलाने वाला है, जो सारे स्थानों और सारे भुवनों को जानता है जो एक ही सारे देवताओं का नाम धारने वाला है। सारे के सारे भुवन उसी एक सांझे प्रश्न को हल कर रहे हैं (सब के सब अपनी रचना से उस एक की महिमा को प्रकाशित कर रहे हैं)

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः (यजु० ४०।८)

उस (परमात्मा) ने लगातार चलने वाले वर्षों के लिए यथायोग्य पदार्थों को रचा है ।

सर्वेनिमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि । नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् (यजु० ३२।२)

सारी घटनाएं उस प्रकाश स्वरूप पूर्णपुरुष से उत्पन्न होती हैं, उसको न कोई ऊपर से न चारों ओर से, न मध्य से ग्रह कर सकता है (उसका आदि मध्य और अन्त नहीं है)

यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा (अथर्व १३।३।३)

जो मारता है, और जिलाता है, जिस से सारे भुवन जीते हैं।

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्। इन्द्रो वृधा मिन्द्रइन्मेधिराणामिन्द्रः योगे क्षेमे हव्य इन्द्रः (ऋ० १०।८९।१०)

इन्द्र द्यौ पर शासन कर रहा है, इन्द्र पृथिवी पर शासन कर रहा है, इन्द्र जलों पर शासन कर रहा है, इन्द्र मेघों पर शासन कर रहा है, इन्द्र बढ़ने वालों पर शासन कर रहा है, और इन्द्र ही समझ वालों पर शासन कर रहा है। इन्द्र ही नई प्राप्ति के लिए पुकारने योग्य है, और इन्द्र ही प्राप्त की रक्षा के लिए पुकारने योग्य है।

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः। सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान् न नेमिः परि ता बभूव (ऋ० १।३२।१५)

दण्डधारी इन्द्र उस सब का राजा है, जो चढ़ाई में है, वा ठहरा हुआ है, और जो शान्त है और जो लड़ाका है, हां वही राजा सब मनुष्यों पर शासन कर रहा है, वह इस तरह सब को घेरे हुए है, जैसे रथ की धारा अरों को घेरे हुए होती है॥

मुसल्मानों और ईसाइयों का सिद्धान्त—"ईश्वर इस सृष्टि का स्रष्टा है" यह सिद्धान्त जैसा वेद का है, वैसा ही क़ुरान और बाइबल का है, इस अंश में ये तीनों धर्मग्रन्थ एक ही शिक्षा देते हैं।

तीन अनादि

इस प्रकार युक्ति और प्रमाण से तीन पदार्थ अनादि सिद्ध होते हैं, प्रकृति जीव और ईश्वर। तीनों का अनादि मानना आवश्यक है, किन्तु मुसल्मान और ईसाई एक ईश्वर को ही अनादि मानते हैं, उनका पक्ष यह है—

आदि में एक ईश्वर ही था, उस से भिन्न और कुछ नहीं था, वह एक अद्वितीय (वाहदहु लाशरीक) था। उस की शक्ति अपार है, वह जो चाहे कर सकता है, उस की इच्छा हुई, कि मैं एक जगत् उत्पन्न करूं, ज्यूंही उस की इच्छा उत्पन्न हुई, और उस ने कहा "होजा" तो झट जगत् उत्पन्न होगया।

समीक्षा—दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि होती है। इस दृष्ट जगत् में ईश्वर का अनुमान हम इसलिए करते हैं,कि हम इस जगत् में यह नियम पाते हैं,कि हरएक रचना चेतनकर्तृक होती है। सो जैसे इस जगत् में यह नियम पाया जाता है, जो ईश्वर साधक अनुमान का साधन है,वैसे ही इस जगत् में यह नियम भी पाया जाता है, कि सत् का अभाव और अभाव का सद्भाव नहीं हो सकता। नियम वही होता है,जो अटल हो। जब इन में से दूसरा नियम भी अटल हुआ,तो यह सिद्धान्त स्थिर होगया,कि अभाव से इस सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई। और यदि हठ से यही कहो, कि नियम कहीं टूट भी जाता है, तो फिर तुम ही बतलाओ, कि जिस ईश्वर की अपनी जान में महिमा बढ़ाने के लिए तुम ने नियम को असार्वत्रिक माना है,उस ईश्वर की सिद्धि तुम अनुमान से कर सकते हो? क्योंकि हरएक रचना का चेतनकर्ता होता है, जब यह नियम सर्वत्रिक न रहा, तो फिर जगत् की रचना का चेतन कर्ता मानना भी आवश्यक न रहा। यह तो "वृद्धि

मिच्छतो मूल हानिः=लाभ चाहते हुए ने मूल भी गंवा दिया " वाली बात हुई। सो जब एक नियम को अटल मानकर ईश्वर की सिद्धि मानते हो, तो वैसा ही दूसरे नियम से उसके साथ जगत् की सामग्री का मानना भी आवश्यक है, इसका भी तुम अपलाप नहीं कर सकते।

शंका—हरएक द्रव्य की अपनी २ शक्ति भिन्न २ होती है, जैसे जल में जलाने की शक्ति नहीं; पर अग्नि में है। इसी प्रकार हम में अभाव से भाव को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं, पर ईश्वर में है, ऐसा मानने में क्या हानि है?

समाधान—हम कब कहते हैं, कि शक्ति भिन्न २ नहीं होती, किन्तु कार्यकारणभाव का नियम अन्यथा नहीं होता। जल में जलाने की शक्ति नहीं, तो चाहे कोई धुरन्धर विज्ञानी भी कितना ही बल लगाए, पानी से किसी वस्तु को जला नहीं सकता। क्योंकि जलाने का कारण जल नहीं, अग्नि है। इसी प्रकार जब भाव और अभाव का कार्यकारणभाव ही नहीं, तो फिर कोई भी विज्ञानी अभाव को भाव नहीं बना सकता।

किञ्च—जब तुम यह कहते हो, कि ईश्वर अभाव से भाव कर सकता है, तो इस से यह बात अर्थसिद्ध होती है, कि अभाव भाव होसकता है। क्योंकि नियम यह है, कि जिस वस्तु से जो कार्य किया जासकता है, उस वस्तु से वह कार्य हो सकता है। यह अलग बात है, कि हम उस वस्तु से वह कार्य कर सकें, वा न कर सकें, पर उस वस्तु से वह कार्य होसकता है, इस में कोई बाधा नहीं आती।

लुहार लोहे से तलवार बना सकता है, तो यह अर्थसिद्ध है, कि लोहे से तलवार बन सकती है, चाहे हम न बना सकें।

सो अभाव से जगत् की उत्पत्ति मानने वाले को यह मानना आवश्यक होगया, कि "अभाव से भाव होसकता है"। .

अब देखना यह है, कि जो कार्य हो सकता है, उस को सभी क्यों नहीं कर सकते? इस लिए, कि जिस प्रकार उसके अवयवों की संस्थिति (तरतीब) से वह वस्तु उत्पन्न हो सकती है, वैसी संस्थिति देना सब नहीं जानते। तन्तुओं की जैसी संस्थिति से तन्तु कपड़ा बन जाता है, तन्तुओं को वैसी संस्थिति देना जो जानता है,वह तन्तुओं से कपड़ा बना सकता है, जो नहीं जानता, वह नहीं बना सकता। इसी प्रकार लोहे के अवयवों की जैसी संस्थिति से तलवार बनती है, जो वैसी संस्थिति देना जानता है, वह लोहे से तलवार बना सकता है, जो नहीं जानता है,वह नहीं बना सकता है। केवल इतना ही भेद बना सकने वाले और न बना सकने वाले में है। पर यह भेद अभाव से भाव की उत्पत्ति में नहीं रहता। अभाव के भी यदि कोई अवयव होते, जिनको जैसी संस्थिति देने से जगत् उत्पन्न होता, वैसी संस्थिति देना ईश्वर जानता, हम न जानते, तब तो तो तुम कह सकते थे, कि ईश्वर अभाव से भाव कर सकता है, हम नहीं कर सकते। पर जब अभाव के कोई अवयव ही नहीं, तो किस तरह उसको जगत् के रूप में ढालना है, इसके जानने की भी कोई आवश्यकता नहीं, ऐसी दशामें अभाव से भाव की उत्पत्ति करने में हम में और ईश्वर में कोई भेद न रहा। तब यह हो नहीं सकता, कि ईश्वर कर सके,और हम न कर सकें। क्योंकि अन्यत्र कर सकने वाले और न कर सकने वाले में जो भेद हुआ करता है, वह भेद यहां नहीं है। और सच तो यह है, कि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने में कर्ता की आवश्यकता ही

नहीं रहती। कर्ता का काम तो इतना ही है, कि वह द्रव्य के अवयवों को वैसी संस्थिति देदे, बनना तो उपादान कारण ने ही है। जैसे घड़ा बनना तो मिट्टी ने ही है, वस्त्र बनना तो रूई ने ही है। पर अभाव से भाव की उत्पत्ति में जब अवयवों का सन्निवेश करना ही नहीं, तो कर्ता की कोई आवश्यकता न रही। ऐसी अवस्था में यह मानना न्याय्य हो सकता है, कि अभाव ने एक पलटा खाया और भांति २ का जगत् उत्पन्न हो गया। ईश्वर का कोई काम न रहा। अतएव उसकी सिद्धि न हुई। और यह भी कहा जासकता है, कि पहले निरा शून्य था, शून्य ने एक पलटा खाया, तो ईश्वर उत्पन्न होगया, दूसरा पलटा खाया, तो जगत् उत्पन्न हो गया, अथवा एक ही पलटे में इकट्ठे दोनों उत्पन्न हो गये। अभाववादी के पक्ष में यह दोष अनिवार्य हो जाते हैं।

किञ्च—सारे विज्ञानशास्त्री इस विषय में सहमत हैं कि जगत् के अणु क्रम २ से परिणत होते हुए कई युगों में जाकर सूर्य पृथिवी आदि के रूप में परिणत हुए हैं। इस क्रम की आवश्यकता भाव से भाव की उत्पत्ति में हो ही सकती है, क्योंकि अवयवों को वैसी संस्थिति में आने के लिए कई बार पलटे खाने पड़ते हैं। पर अभाव से भाव की उत्पत्ति में जब कोई पलटा नहीं, तो क्रम कैसा, वहां तो एक ही पलटा पर्याप्त है, जैसे उस पलटे में परमाणुओं की उत्पत्ति मानी जा सकती है, वैसे ही बने बनाये जगत् की उत्पत्ति मानी जा सकती है, और यह तुम्हें अनभिमत है।

किञ्च—जगत् में जो कार्य ईश्वर से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे सृष्टि का होना, भांति २ के स्थावर और जंगम की

उत्पत्ति इत्यादि । ये सब तो भाव से भाव की उत्पत्ति के बोधक हैं । अभाव से भाव की उत्पत्ति का बोधक इस विश्व में कोई भी कार्य नहीं । यदि ईश्वर का कोई अत्यल्प-सा भी भावकार्य अभाव से उत्पन्न होता दीखता, तब तुम्हें ऐसा कहने का अधिकार हो सकता था, पर जब इस जगत् में जिन कार्यों को तुम भी ईश्वरकर्तृक मानते हो, उन में से एक भी ऐसा नहीं, जो अभाव से उत्पन्न होता हो, तो फिर किस के सहारे पर कहने का साहस करते हो, कि आदि में ईश्वर ने अभाव से जगत् को उत्पन्न किया ।

किञ्च—ईश्वर अभाव से भाव को उत्पन्न करता है, इस में तुम हेतु यही देते हो, क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है । अर्थात् उसके ज्ञान और शक्ति पूर्ण हैं, अधूरे नहीं । अपूर्ण ज्ञान और शक्ति तो भाव से ही भाव को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, पर पूर्ण ज्ञान और शक्ति अभाव से भी भाव को उत्पन्न कर सकते हैं । इस बात का पता लगाने के लिए पहले ज्ञान और शक्ति के स्वभाव की परीक्षा करनी होगी ।

देखो, ज्ञान और शक्ति सर्वत्र द्रव्यों से काम लेने में उपयुक्त होते हैं, पर न तो किसी द्रव्य की शक्ति का अभाव कर सकते हैं, न किसी द्रव्य की शक्ति को अन्यथा कर सकते हैं । अग्नि एक उष्ण द्रव्य है, अब जितना बड़ा ज्ञानवान् और शक्तिमान् हो, उतना ही वह उस से अधिक और उत्तम काम ले सकता है, पर अग्नि का स्वरूपाभाव करने वा शीतल बना देने में जैसे एक गंवार असमर्थ है, वैसे ही एक बहुत बड़ा योग्य एञ्जीनीयर भी असमर्थ है, क्योंकि स्वभाव अन्यथा नहीं किया जा सकता है । इसी प्रकार जैसे एक अनजान लोहे से

कुछ भी नहीं बना सकता, पर लोहे के विषय में उससे अधिक ज्ञान और शक्ति रखने वाला लुहार मोटे २ शस्त्र बना सकता है, और उससे भी अधिक ज्ञान और शक्ति रखने वाला बड़े २ सूक्ष्म यन्त्र बना सकता है, पर बिना लोहे के बनाने में जैसे एक उजड्ड असमर्थ है, वैसे एक लोहे का पूर्ण ज्ञानी भी असमर्थ है। इससे सिद्ध होता है, कि ज्ञान और शक्ति विद्यमान वस्तुओं से काम लेने में काम आते हैं, विद्यमान को अविद्यमान वा अविद्यमान को विद्यमान करने में नहीं। सो जब वस्तुशक्ति ही ऐसी है, कि ज्ञान और शक्ति द्रव्यों से काम ले सकते हैं, पर भाव का अभाव और अभाव का भाव नहीं कर सकते, यह उन के स्वभाव में ही नहीं, अतएव यह उन के लिए असम्भव है; तो फिर सर्वज्ञ और सर्वशक्ति के ज्ञान और शक्ति के लिए भी ये काम सम्भव नहीं हो सकते। क्योंकि पूर्ण ज्ञान और पूर्णशक्ति भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकते।

यह वचन कि ईश्वर के लिए कुछ भी असम्भव नहीं, युक्ति युक्त नहीं। क्या ईश्वर अन्याय कर सकता है, पाप का फल सुख और पुण्य का फल दुःख दे सकता है? दो और दो को पांच कर सकता है, कृष्ण और शुक्ल एक कर सकता है, कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न कर सकता है, जो उस के ज्ञान में नहीं, एक काल में एक वस्तु में जड़ता और चेतनता इकट्ठी कर सकता है, जीवन और मृत्यु को इकट्ठा कर सकता है? एक ही मूर्त द्रव्य को पहला स्थान छुड़ाए बिना दूसरे स्थान में दिखला सकता है? अपने तुल्य एक और ईश्वर बना सकता है? यदि यह कहो, कि ऐसा कर तो सकता है, पर वह करता नहीं, तो हम पूछते हैं, कि जब वह अनादि है,

तिस पर भी उस से कभी ऐसा काम हुआ नहीं, तो फिर इस में क्या प्रमाण है, कि वह कर सकता है ? अनादि तत्त्व में कोई ऐसी योग्यता नहीं मानी जा सकती, जो कभी न प्रकटी हो। और ऐसा मानकर भी आक्षेप दूर नहीं होता, क्योंकि यदि वह अपने जोड़ का एक और ईश्वर बना भी दे, तो भी वह उस के तुल्य नहीं होगा, क्योंकि आप स्वयम्भू है, और यह उत्पत्तिमान् होगा, आप अनादि है और यह सादि होगा, इस लिए सर्वांश में तुल्य न हुआ। अतएव उत्तर यही है, कि स्वभाव को अन्यथा करना असम्भव है, और ईश्वर भी असम्भव को सम्भव नहीं कर सकता। अन्यथा उस के अपने स्वभाव के विरुद्ध हैं, और दो और दो पांच करना आदि वस्तु स्वभाव के विरुद्ध हैं, इस लिए वह ऐसा नहीं कर सकता, इस से उसकी सर्वशक्तिमत्ता में कोई हानि नहीं आती। सर्वज्ञता का अर्थ यह है, कि जो कुछ है, उस सब को जानता है, और जैसा है वैसा जानता है। और सर्वशक्तिमत्ता का यह अर्थ है, कि इस प्रकृति से जो २ परिणाम हो सकता है, वह किसी की सहायता के कर सकता है। सारांश यह, कि जो है, उस सब को वह जानता है, जो हो सकता है, उस सब को वह कर सकता है॥

सर्वथा जैसे २ अभाववाद की परीक्षा की जाती है, वैसे वैसे बालू की भीत की न्याईं गिरता जाता है। वस्तुतः प्रकृति और जीव का अनादित्व भी जिस प्रकार बाइबल और कुरान के विरुद्ध नहीं है, वह पूर्व दिखला आये हैं। सो युक्ति प्रमाण सिद्ध यही सिद्धांत है, कि **प्रकृति, जीव और ईश्वर तीनों अनादि हैं।**

ईश्व के स्वरूप गुण कर्म और स्वभाव का विचार।

विषय—ईश्वर चेतन, सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है।

ईश्वर साधक प्रमाणों से ही **अधिकरण सिद्धान्त***की रीति से यह बात सिद्ध होजाती है, कि ईश्वर **चेतन** है, **सर्वज्ञ** है और **सर्वशक्ति** है। क्योंकि अनुमान से जगत्कर्त्ता की सिद्धि एक सर्वज्ञ सर्वशक्ति चेतन के रूप में ही होती है। उस सर्वज्ञ सर्वशक्ति चेतन को ईश्वर नाम दिया गया है। इस का संक्षेपतः स्पष्टीकरण इस प्रकार है, कि रचना का कर्त्ता चेतन ही होता है, अतएव जगत्कर्त्ता ईश्वर चेतन है। वही किसी वस्तु को रच सकता है, जो उस के घटक अवयवों अर्थात् उपादान कारण को प्रत्यक्ष जानता है। इस से सिद्ध है, कि जगत्कर्त्ता ईश्वर जगत् के घटक सारे अवयवों को प्रत्यक्ष जानता है, अतएव ईश्वर सर्वदर्शी या सर्वज्ञ है। वही किसी कार्य को कर सकता है, जो उस के घटक अवयवों को जानता हुआ उसके करने की शक्ति भी रखता है। ईश्वर यतः सारी अद्भुत रचना का कर्त्ता है, इस लिए वह सर्वशक्ति है।

वेद का सिद्धान्त—यश्चिदापो महिना पर्य-

---

* यत्सिद्धावन्य प्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः (न्याय १।१।३०) जिसकी सिद्धि में और विषयों की भी सिद्धि हो जाय, वह अधिकरण सिद्धान्त कहलाता है। जैसे ईश्वर की सिद्धि में चेतनता सर्वज्ञता और सर्वशक्तिता अनुषंग से सिद्ध हो जाते हैं।

पश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् । यो देवे-ष्वधिदेव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम (ऋग् १०।१२१।८)

हम किस देव की हवि से पूजा करें ? (उसकी) जो चेतन स्वरूप अपनी महिमा से इस समग्र प्रकृति को चारों ओर से देख रहा था, * जब कि वह बल को धारण करके सृष्टि के रचने में प्रवृत्त हुई, और जो सब देवताओं के ऊपर एक देव है।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यो देवनां नामधा एकएव तं स-म्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या (ऋ० १०।८२ । ३)

जो हमारा उत्पादक पालक और विधाता है, जो सारे स्थानों और सारी सद्वस्तुओं को जानता है, जो सारे देवताओं के नाम धारने वाला एक ही है, सारे के सारे भुवन उसी एक सांझे प्रश्न का पता दे रहे हैं।

यो विश्वाऽभिपश्यति भुवना सं च पश्यति । सनः पूषाऽविता भुवत (ऋ० ३।६२।९)

जिस की सब भुवनों पर अलग २ दृष्टि है, और सब पर एक साथ दृष्टि है, वह पालक हमारा सहायक हो।

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् । वेद नावः समुद्रियः (ऋ०१।२५।७)

*अर्थात् जिस की देखरेखमें प्रकृतिसे यह सृष्टि रचना हुई है।

वह जो आकाशमार्ग से उड़ते हुए पक्षियों के खोज को जनता है, और समुद्र का अन्तरात्मा हो कर जहाज़ के खोज को जानता है।

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते (ऋ०१।२५।८)

वह अटल नियमों वाला बारह महीनों को उनके हर एक उपज के साथ जानता है, और जानता है, जो कि अधिमास (अधिक महीना) उत्पन्न होता है।

वेद वातस्य वर्तनिमुरोर्ऋष्वस्य बृहतः। वेदा ये अध्यासते (१।२५।९)

वह फैले हुए ऊंचे और शक्ति वाले वायु के मार्ग को जानता है, वह जानता है (उन देवताओं को) जो ऊंचे रहते हैं

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥ अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा॥

(ऋ १। २५। १०-११)

जिसके नियम अटल हैं, जिसके ज्ञान और कर्म पवित्र हैं, वह वरुण अपनी सारी प्रजाओं पर एकाधिपत्य राज्य करने के लिए सारी प्रजाओं के अन्दर बैठा है। १०। यहां से (प्रजाओं के अन्दर बैठकर) वह चेतनावान् सब अद्भुतों पर सीधी दृष्टि डालता है, जो (अद्भुत) किये गये हैं, और जो करने हैं।

न त्वदन्यो कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्व-

धावन् । त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ॥ (अथर्व ५ । ११ । ४)

हे प्रकृति के मालिक ! हे वरुण ! तुझ से बढ़कर कोई धर्म मार्ग का द्रष्टा नहीं है, न बुद्धि में तुझ से बढ़कर कोई बुद्धिमान् है, तू इन (प्रत्यक्ष और परोक्ष) सारे भुवनों को पूरी तरह जानता है, अद्भुत शक्तियों वाला पुरुष भी तुझ से डरता है ।

उपनिषद् और दूसरे शास्त्र—'ईश्वर चेतन और सर्वज्ञ है, यह जो वेदोक्त सिद्धान्त है । उपनिषद् और दूसरे शास्त्र सब इसके पोषक हैं—जैसे—

यः सर्वज्ञः सर्व विद् यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूप मन्नं च जायते ।

(मुण्ड० उप० १ । १ । ९)

जो सब को जानता है, और सब को समझता है जिसका तप ज्ञानमय है, उस परब्रह्म से यह ब्रह्माण्ड, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है ।

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः । प्रधानक्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थिति बन्ध हेतुः । (श्वेता० उप० ६ । १६)

वह इस विश्व का बनाने वाला और इस विश्व का जानने वाला है, आत्मा है, सबका कारण है, चेतन है, काल का काल है, गुणी है, विशेष रूप से सबका ज्ञाता है, प्रकृति और जीवात्मा का पति है, गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) पर ईशान

करता है, संसार के मोक्ष स्थिति और बन्ध का हेतु है (उसको जानने से मोक्ष और न जानने से बन्ध है)

सर्व शक्तिता—यस्यामितानि वीर्या न राधः पर्येतवे। ज्योतिर्न विश्व मभ्यस्ति दक्षिणा।

(ऋ० ८। २४। २१)

जिसकी शक्तियें अपरिमित हैं, जिसकी दात से कोई बढ़ नहीं सकता है, जिसकी दक्षिणा ज्योति की न्याई सब के ऊपर है।

नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम्। नकिर्वक्ता न दादिति। (ऋ ८। ३२। १५)

इसकी शक्तियों का और सच्चे उदारवचनों का कोई नियन्ता (हद्द बांधने वाला) नहीं है, कोई नहीं कह सकता, कि उसने मुझे नहीं दिया है।

शक्मना शाको अरुणः सुपर्णः आयो महः शूरः स्यादनीळः। यच्चिकेत सत्यमित्तन्नमोघं वसुस्पार्ह-मुत जेतोत दाता। (ऋ १०। ५५। ६)

अपनी शक्ति से शक्तिमान् (=अपनी शक्ति से ही सब कुछ करने में समर्थ, जो अपने काम में किसी से सहायता नहीं लेता) तेजस्वी, शरण लेने योग्य, महिमा वाला, विजयशील, और (सर्वाधार होकर स्वयं) निराधार है, वह जो २ कुछ जानता और करता है, वह सब सत्य है, मिथ्या नहीं, वह स्पृहणीय धन का विजेता और दाता है।.....

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८१, ८२ इन दो सूक्तों में परमात्मा को विश्वकर्मा नाम से पुकारा है। विश्वकर्मा का अर्थ है, जिस से कोई कर्म असाध्य नहीं, यही सर्वशक्ति से अभिप्राय है, इसलिए विश्वकर्मा कहो वा सर्वशक्ति कहो, एकही तात्पर्य है।

'ईश्वर सर्व शक्ति है' यही सिद्धान्त उपनिषदों और दर्शन शास्त्रों का है, जैसे—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच। (श्वेता० उप० ६।८)

उसका न शरीर न इन्द्रिय हैं, न उसके कोई बराबर है, न अधिक है। उसकी शक्ति निःसंदेह सब से बड़ी है और अनेक प्रकार की है, उस में ज्ञान की शक्ति और बल की शक्ति दोनों स्वाभाविक हैं।

ज्ञान और बल दो ही मुख्य शक्तियां हैं, और सारी शक्तियां इन्हीं के अवान्तर भेद हैं।

ब्रह्म सूत्रों में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया है—

सर्वोपेता च तद् दर्शनात् (वेदान्त० २।१।३०)

वह (परा देवता) सारी शक्तियों से युक्त है, क्योंकि (श्रुति में उस का वर्णन ऐसा) देखा जाता है।

व्याख्या—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते=इस की शक्ति सब से ऊंची और अनेक प्रकार की है (श्वेता० उप० ६।८) **सर्वकर्मा......अनादरः**सारे कर्मों का कर्ता है, और अपने

काम में किसी की अपेक्षा नहीं रखता (छान्दोग्य० ३।१४।४) **सत्य संकल्पः**=उसके संकल्प पूर्ण होते हैं (छान्दो० ३।१४।१) **यः सर्वज्ञः सर्ववित्**=जो सब को जानता है, और सब को समझता है (मुण्डक०१।१।९)**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौतिष्ठतः**=इस अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि सूर्य और चन्द्रमा अपनी मर्यादा में खड़े हैं (बृह० ३।८।९) इत्यादि श्रुतियें दिखलाती हैं, कि परमात्मा में सारी शक्तियों का सम्बन्ध है।

विकरण धर्मत्वान्नेतिचेत् तदुक्तम् (वे० २।१।३१)

इन्द्रियों से रहित होने के कारण परा देवता सर्वशक्ति नहीं होसकती, यदि ऐसा कहो, तो इसका उत्तर कहा हुआ है।

व्याख्या—(शंका) मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों से जानता है, और कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है, इन दोनों प्रकार के इन्द्रियों के विना चेतन आत्मा न जान सकता है, न ही कर्म कर सकता है। इसी प्रकार परा देवता भी चेतन है, और आत्मा है, अतएव उसको भी जानने के लिए ज्ञानेन्द्रियों की और कर्म करने के लिए कर्मेन्द्रियों की आवश्यकता है, पर उपनिषद् बतलाती है—

अचक्षुष्कम श्रोत्रमवागमनाः (बृह० ३।८)
उसका न नेत्र है, न श्रोत्र है, न वाणी है, न मन है,
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते (श्वेता०६।८)
न उस का शरीर है, न इन्द्रिय हैं,

सो जब इस के इन्द्रिय ही नहीं, तो वह सर्वशक्ति हो कर भी किस तरह जानने और करने के समर्थ हो सकता है।

समाधान—इस शंका का समाधान भी उपनिषद् में कर दिया है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।(श्वेता ३।१९)

बिना पाओं के सर्वत्र पहुंचा हुआ है, बिना हाथ के सब को थामें हुए है, बिना नेत्र के सब को देखता है, बिना कान के सब कुछ सुनता है।

यह श्रुति इन्द्रियों से रहित ब्रह्म में भी सारी शक्तियों का योग दिखलाती है। और इस की उपपत्ति यह है, कि आत्मा का साक्षात् सम्बन्ध जिन वस्तुओं के साथ नहीं, उन के जानने और करने के लिए आत्मा को साधनों (इन्द्रियों) की अपेक्षा होती है। जैसे बाहर जो वृक्ष है, उस के साथ हमारे आत्मा का साक्षात् सम्बन्ध नहीं, इस लिए उसको जानने के लिए आत्मा के पास आंख का एक शीशा है, जिस पर बाहर की वस्तु प्रतिबिम्बित हो कर आत्मा के सामने आजाती है, पर जो चित्र मन में जा खिचा है, उसको आत्मा साक्षात् देखलेता है, वहां किसी इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार बाहर की वस्तु को हिलाने के लिए आत्मा को हाथ की आवश्यकता है, पर अपने हाथ को हिलाने के लिए किसी दूसरे हाथ की आवश्यकता नहीं, वह आत्मा की निजशक्ति से हिल सकता है, क्योंकि आत्मा उसके अन्दर सीधे तौर पर काम कर सकता

है। इसी प्रकार परमात्मा हर एक पदार्थ के अन्दर व्याप्त हुआ साक्षात ही उसे देख सकता है और साक्षात ही उस में क्रिया उत्पन्न कर सकता है उस को किसी इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उस को किसी ऐसी जगह पर काम नहीं करना है, जहां वह अन्तरात्मरूप में स्वयं साक्षात विद्यमान नहीं है। इसलिए सर्वशक्ति परमात्मा बिना इन्द्रियों के सारे काम करने के समर्थ है।

बाइबल और कुरान का सिद्धान्त–ईश्वरवादी सब के सब इस सिद्धान्त में सहमत हैं, कि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है, ऐसाही बाइबल और कुरान का भी सिद्धान्त है। तथापि जैसा शुद्ध वर्णन इन गुणों का वेद में पाया जाता है, वैसा अन्यत्र नहीं पाया जाता। बाइबल में आया है, कि जब आदम और हव्वा ने उस वृक्ष का फल खाया, जिस का खुदा ने निषेध किया था, तब इन दोनों के नेत्र खुल गये, और उन्होंने अपने को नग्न देख कर अंजीर के पत्तों से अपने अंग को ढांपा (८) पीछे यहोवा परमेश्वर जो सांझ के समय बारी में फिरता था उस का शब्द उन को सुन पड़ा, और आदम और उस की स्त्री बारी के वृक्षों के बीच यहोवा परमेश्वर से छिप गये।९। तब यहोवा परमेश्वर ने पुकार के आदम से पूछा, तू कहां है।१०। उसने कहा मैं तेरा शब्द बारी में सुन के डर गया क्योंकि मैं नंगा था, इसी लिए छिप गया।११। उस ने कहा, किस ने तुझे चिताया कि तू नंगा है जिस वृक्ष का फल खाने को मैंने तुझे बर्जा था क्या तूने उस का फल खाया है।१२। आदम ने कहा जिस स्त्री को तूने मेरे संग

रहने को दिया उसी ने उस वृक्ष का फल मुझे दिया सो मैंने खाया। १३। यह सुन के यहोवा परमेश्वर ने स्त्री से कहा तूने यह क्या किया है स्त्री ने कहा सर्प ने मुझे बहका दिया सो मैंने खाया है" (उत्पत्ति अध्याय ३) यहां यहोवा को, छिपे हुए आदम का और उसके फल खाने आदि का बिन बतलाए पता न लगना यहोवा की सर्वज्ञता पर आक्षेप है।

इसी प्रकार "।५। उस समय यहोवा ने देखा, कि मनुष्यों की बुराई पृथिवी पर बढ़ गई है और उन के मन के विचार में जो कुछ उत्पन्न होता सो निरन्तर बुरा ही होता है।६। यह देख के यहोवा पृथिवी पर मनुष्य को बनाने से पछताया और वह मन में अति खेदित हुआ।७। सो यहोवा ने सोचा कि मैं मनुष्य को जिसे मैंने सिरजा है पृथिवी के ऊपर से मिटा दूंगा मनुष्य क्या बल्कि पशु और रेंगने हारे जन्तु और आकाशचारी पक्षी सब को मिटा दूंगा क्योंकि मैं उनके बनाने से पछताता हूं" (उत्पत्ति–अध्याय ६) यह अपने ही किये काम पर पछताना और अपने किये को मिटा डालने का विचार पहले हो गई भूल का साधक है, और सर्वज्ञता का बाधक है।

तथा याकूब से ईश्वर का मल्ल युद्ध इस प्रकार से वर्णन किया है "।२४। और आप (याकूब) अकेला रह गया तब कोई पुरुष आके उस से मल्लयुद्ध करने लगा और पौफटने लों करता रहा ।२५। जब उसने देखा कि याकूब पर प्रबल नहीं होता, तब उसकी जांघ की नस को छुआ सो याकूब की जांघ की नस उस से मल्लयुद्ध करते ही करते चढ़ गई।२६। तब उस ने कहा मुझे जाने दे क्योंकि पौ फटती है। याकूब ने कहा, जब लों तू मुझे आशीर्वाद न दे, तब लों मैं तुझे जाने न दूंगा।२७।

फिर उसने याकूब से पूछा तेरा नाम क्या है उसने कहा याकूब।२८। उस ने कहा तेरा नाम याकूब न रहेगा इस्राएल रक्खा गया है क्योंकि तू परमेश्वर से भी और मनुष्यों से भी युद्ध कर के प्रबल हुआ है ।....।३०। तब याकूब ने यह कहके उस स्थान का नाम पनीएल रक्खा कि परमेश्वर को आमने सामने देखने पर भी मेरा प्राण बच गया है" (उत्पत्ति अध्याय ३२)

इस पर कुछ टिप्पणी चढ़ाने की आवश्यकता नहीं, एक मनुष्य से मल्लयुद्ध और तिस पर भी प्रबल न होना ईश्वर की शक्ति की क्या महिमा रहने देता है। कुरानशरीफ में भी पहले तो स्थान २ पर बाइबल को प्रामाणिक माना है, इसलिए ये सारे इतिवृत्त कुरान को भी अभिमत हैं। और सूरत अलबकर में है 'और जब हमने फिरश्तों से कहा कि आदम के आगे झुको तो शैतान के बिना (सब के सब) झुक पड़े उसने न माना अभिमान में आगया और अवज्ञाकारी बन बैठा। और हमने कहा हे आदम तुम और तुम्हारी पत्नी स्वर्ग में बसो और उसमें जहां कहीं से तुम्हारा जी चाहे यथारुचि खाओ पर इस (गेहूं) के वृक्ष के पास मत फटकना (ऐसा करने से) तुम (अपनी) हानि कर लोगे। किन्तु शैतान ने उन को वहां से उखाड़ दिया, और जिस में थे उस से उनको निकलवा छोड़ा और हमने आज्ञा दी कि तुम उतर जाओ, तुम एक के शत्रु एक और भूमि तुम्हारे लिए एक समय तक ठिकाना और जीवन का उपकरण है," यहां ईश्वर के सामने शैतान का ईश्वर की अवज्ञा करना और ईश्वर का उसको कोई दण्ड न देना और शैतान का ईश्वराज्ञा के विरुद्ध आदम और उसकी पत्नी को बहकाना, तिस पर भी ईश्वर का बहकाये हुओं पर

ही कोप निकालना बहकानेवाले का कुछ न करना ईश्वर की सर्वशक्तिता का बाधक है। और आश्चर्य है, कि शैतान खुल्लमखुल्ला ईश्वरविरोधी बन रहा है, जैसा कि सूरत अलनसा रकूअ १८ में है 'उस द्रोही शैतान को पुकारते हैं कि जिस को खुदा ने फिटकार दिया और वह लगा कहने कि मैं तो तेरे बंदों से एक नियत भाग को अवश्य ही बहकाऊंगा" इस प्रकार खुल्लमखुल्ला सामना शैतान खुदा का कर रहा है और खुदा उस का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इसी प्रकार जब हजरत मुहम्मद साहब मदीने में आये, वहां हजरत ने कअबे के स्थान यरूशलम को किबला नियत किया, फिर कोई डेढ़ बरस पीछे यरूशलम को त्याग कर पुनः कअबे को ही किबला नियत किया। यहूदियों ने इस पर आक्षेप किये, और कई लोग हजरत से फिर गये, तब हजरत पर यह वचन उतरा "और जिस किबले पर तुम थे, हमने उसको इसी प्रयोजन से नियत किया था, कि जो लोग रसूल का अनुसरण करें उन को हम उन लोगों से निखेर लें जो अपने उलटे पाओं फिर जायं" (सूरतअल्बकर) यहां जो खुदा ने रसूल के सच्चे अनुयायिओं और झूठे अनुयायिओं का पता लगाने के लिए कअबे को बदलने का ढंग बता है, यह आवश्यकता उसी को हो सकती है, जो मनुष्य के मन के भीतरी भावों को न जान सके, इसलिए यह उसकी सर्वज्ञता पर आक्षेप है।

ईश्वर सर्वव्यापक आत्मा है।

"(प्रश्न) ईश्वर व्यापक है वा किसी देश विशेष में रहता है? (उत्तर) व्यापक है, क्योंकि जो एक देश में रहता, तो सर्वा-

न्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता सब का स्रष्टा सब का धर्ता और प्रलयकर्ता नहीं हो सकता । अप्राप्त देश में कर्ता की क्रिया का असम्भव है,”(सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ७) इस का स्पष्टीकरण यह है,-कि कारण जहां हो, वहीं उस का कार्य उत्पन्न होसकता है, कारण अन्यत्र हो और कार्य अन्यत्र उत्पन्न हो, ऐसा होना असम्भव है । जहां सूत है, वहीं वस्त्र होगा, जहां सूत नहीं, वहां वस्त्र का होना असम्भव है, इसी प्रकार जहां बुनने वाला होगा, वहीं सूत से वस्त्र बनेगा, जहां बुनने वाला नहीं, वहां वस्त्र का बुना जाना असम्भव है । ईश्वर जब तर्क और प्रमाण से सृष्टि का स्रष्टा और नियन्ता सिद्ध होता है, तो उसके साथ यह भी सिद्ध हो गया, कि यह रचना और नियमन जहां २ एक साथ हो रहा है, वहां सर्वत्र ईश्वर एक ही काल में साक्षात् विद्यमान है, और यह कार्य यतः सारे ब्रह्माण्डों में एक साथ हो रहा है, इस लिए ईश्वर एक ही काल में सारे विश्व में साक्षात् विद्यमान है । जो एक ही काल में सर्वत्र विद्यमान हो, उसी को सर्वव्यापक कहते हैं । सर्वज्ञ भी इसी लिए है, कि सर्वत्र साक्षात् विद्यमान है, और चेतन है, इस लिए हर एक वस्तु को जानता है, बल्कि जो भाव हमारे हृदयों में उत्पन्न होते हैं, उन को भी वह जानता है, और हर एक वस्तु के आन्तरीय स्वरूप को जानता है । यह तभी हो सकता है, जब वह सर्वान्तर्यामी हो । और सर्वान्तर्यामी और एकदेशी होना परस्पर विरुद्ध हैं, दो विरुद्ध धर्मों का इकट्ठा होना असम्भव है, इसलिए या तो वह एक देशी ही हो सकता है, या सर्वान्तर्यामी ही हो सकता है । अनुभवी उसको सर्वान्तर्यामी कहते हैं, इसलिए एक देशी नहीं, और सर्वान्तर्यामी माने बिना सर्वज्ञ

नहीं बन सकता, और सर्वज्ञ माने बिना सर्वनियन्ता और सब का स्रष्टा नहीं बन सकता, पर वह है सब का स्रष्टा और नियन्ता अतएव सर्वज्ञ भी है और जब सर्वज्ञ है, तो सर्वान्तर्यामी निश्चित होगया और जब सर्वान्तर्यामी निश्चित होगया, तो अब इसके विरुद्ध होने से एकदेशी माना नहीं जा सकता हैं। इसी प्रकार जो एकदेशी हो, वह सब का धर्ता (थामने वाला अधार) भी नहीं हो सकता, और सब का प्रलयकर्ता भी नहीं होसकता, क्योंकि जहां कर्ता नहीं, वहां उसका कार्य असम्भव है। इससे सिद्ध है, कि ईश्वर सर्वव्यापक है, उसके लिए नीचे ऊपर दाएं बाएं आगे पीछे कोई दिशा नहीं, वह ऊपर नीचे दाएं बाएं आगे पीछे सर्वत्र है। जैसे वह काल की सीमा से परे है, वैसे देश की सीमा से भी परे है।

जब यह सिद्ध हो गया, कि ईश्वर सर्वव्यापक है और चेतन स्वरूप है, तो यह भी सिद्ध होगया, कि वह सर्वान्तरात्मा है, अतएव सर्वज्ञ और सर्वनियन्ता है। इससे सिद्धान्त यह निकला, कि **ईश्वर सर्व व्यापक आत्मा है।**

वेद का सिद्धान्त यही सिद्धान्त वेद का है, जैसे सर्वव्यापकता के विषय में कहा है—

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् (ऋ॰ १०।१२५।३)

मैं (सर्व व्यापक चैतन्य शक्ति) इस सारे राज्य की रानी हूं, सारे धन मेरे पास इकठे हैं, मेरे ज्ञान से बाहर कोई वस्तु नहीं, जो यज्ञ के योग्य हैं उन में मैं ही मुखिया हूं। मैं जो हर

एक वस्तु में प्रविष्ट हूं, और हर एक वस्तु में रहती हूं, उस मुझ को (सूर्य आदि) देवताओं ने बहुत स्थानों में विभक्तसा किया हुआ है (अर्थात् हर एक से मेरी ही महिमा अलग २ प्रकाशित हो रही है)

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् तस्मिन्निद ँ संच विचैति सर्व ँ स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु (यजु ३२।८)

ज्ञानी पुरुष उस सद् (ब्रह्म) को (हृदय की) गुफा में छिपा हुआ देखता है, जो विश्व का एक घोंसला (आशय) है उसी में यह सब लीन होता है और उसी से फिर उत्पन्न होता है वह व्यापक सारी प्रजाओं के अन्दर ओत प्रोत हो रहा है।

उपनिषद् भी ईश्वर की सर्व व्यापकता को बड़े बल से वर्णन करते हैं-

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके चपश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् (मु० ३।१।७)

वह महान् है, दिव्य है, अचिन्त्य है, बृहत् है, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर प्रतीत होता है। वह दूर से अति दूर है, और वह यहीं हमारे निकट भी है, देखने वालों के अन्दर वह यहीं हृदय की गुफा में छिपा हुआ है:—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्व भूताधिवासः साक्षी चेताः केवलोनिर्गुणश्च (श्वेता० ६।११)

वह देव एक है, सारे भूतों (सारी सद्वस्तुओं) में छिपा

हुआ है, सर्वव्यापी है; सब भूतों का अन्तरात्मा है; कर्मों का अधिष्ठाता है, सब भूतों का आधार है, साक्षी है, चेतन है; केवल (एकतत्त्व) है और निर्गुण है।

सर्वं व्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपो मूलं तद् ब्रह्मोपनिषत्परम्॥
(श्वेता० १। १६)

वह सर्वव्यापी दूध में मक्खन की तरह सारे समाया हुआ है, आत्म विद्या और तप उसकी प्राप्ति का मूल है, वह ब्रह्म उपनिषद का परम रहस्य है।

इस प्रकार ईश्वर की सर्वव्यापकता का वर्णन है। पर यहां एक और प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जितना यह विश्व है, उतना ही वह भी है, अथवा विश्व में व्याप्त होकर उससे परे भी है, वेद इस प्रश्न का भी बड़ा स्पष्ट उत्तर देते हैं, कि—

एतावानस्य महिमाऽतोज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
(ऋग्वेद १०। ९०। ३)

यह इतनी बड़ी उसकी महिमा है, पर वह पूर्ण पुरुष इस बड़ी महिमा से भी बड़ा है। समस्त भूत (सारी ही सद्वस्तुएं) उसका एक पाद हैं, उसके तीन अविनाशी पाद अपने प्रकाशमय स्वरूप में हैं।

यहां एक पाद वा तीन पाद का अभिप्राय यह है, कि यह जगत् ईश्वर के स्वरूप की अपेक्षा बहुत छोटा है।

यह सर्वव्यापक शक्ति चेतन आत्मा है, इस विषय में वेद का प्रमाण—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो रात्मानं धीरमजरं युवानम् (अथर्व० १०।८।४४)

वह कामना से रहित है, धीर है, अमर है, स्वयम्भु है, आनन्द से तृप्त है, किसी (शक्ति से) ऊना नहीं (परिपूर्ण है) इसको, हां केवल इस धीर अजर युवा आत्मा को ही जानकर पुरुष मृत्यु के भय से पार होता है (अमर होता है)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानु पश्यति । सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति (यजु० ४०।६)

जो सब भूतों को आत्मा (परमात्मा) में और सब भूतों में आत्मा को देखलेता है, उसके सारे संशय मिट जाते हैं ।

उपनिषद्—वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् । जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥ (श्वेता०३।२१)

मैं इसको जानता हूं, जो पुराना है और अजर है । सब का आत्मा है, और विभु होने से सब के अन्दर है, जिसका जन्म नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मवादी उसको नित्य कहते हैं ।

ईसाई और मुसलमानों का सिद्धान्त—ईश्वर सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी आत्मा है, यह महिमा केवल वेद ने ही बतलाई है । दूसरे धर्म इतनी ऊंची महिमा तक नहीं पहुंचे । जैसा कि बाइबल में उत्पत्ति की पुस्तक अध्याय ३ में है 'पीछे यहोवा परमेश्वर जो सांझ के समय बारी में फिरता था

उसका शब्द उनको सुन पड़ा और आदम और उनकी स्त्री बारी के वृक्षों के बीच छिप गये ॥९॥ तब यहोवा परमेश्वर ने पुकार के आदम से पूछा, तू कहां है ।१०। उसने कहा मैं तेरा शब्द बारी में सुन के डर गया क्योंकि मैं नंगा था इसी लिए छिप गया' यहां यहोवा का फिरना और आदम का उससे छिप जाना फिर यहोवा का उसको पुकार कर उसके बोलने से उसका पता लगाना" ये इस विषय के स्पष्ट ज्ञापक हैं, कि यहोवा मनुष्यवत् देहधारी है, जो ऊपर आकाश में रहता है । यहीं आगे चलकर फिर लिखा है "२२ फिर यहोवा परमेश्वर ने कहा सोचने की बात है कि मनुष्य भले बुरे का ज्ञान पाके हम में से एक के समान होगया है, सो अब ऐसा न होवे कि वह हाथ बढ़ा कर जीवन के वृक्ष का फल भी तोड के खावे और सदा जीता रहे ।२३। यह सोच के यहोवा परमेश्वर ने उसको अदन की बाड़ी में से निकाल दिया, जिससे वह उस भूमि पर खेती करे, जिस में से वह बनाया गया था" यहां जो यहोवा का अपने पास से आदम को निकाल देना बतलाया है इससे भी यहोवा को देहधारी चेतन ही माना हुआ स्पष्ट ज्ञात होता है । इसी प्रकार "इतना कहके परमेश्वर ने इब्राहीम से बातें करनी बंद कीं, और उसके पास से ऊपर चढ़ गया" (उत्पत्ति१७।२२) और याकूब के साथ जो मल्लयुद्ध है, वह भी यहोवा के देहधारी होने का स्पष्ट प्रमाण है। क़ुरान में भी सूरत अलबकर में आदम की कथा ऐसी ही है और अल्ला की आज्ञा के विरुद्ध गेहूं का फल खाने पर यह दण्ड लिखा है 'और हमने आज्ञा दी कि तुम उत्तर जाओ, तुम एक के वैरी एक और भूमि तुम्हारे लिए एक समय तक ठिकाना है' यह अल्ला के आकाश पर रहने का स्पष्ट प्रमाण

है। सूरत तबरकलजी (२९) में प्रलय के वर्णन में कहा है 'और भूमि और पर्वत दोनों को उठा २ कर एक ही बार टुकड़े २ कर दिया जायगा, तो होने वाली (प्रलय) उस दिन हो जायगी और आसमान फट जायगा और वह उस दिन बहुत बोदा होगा और उसके किनारों पर फिरिश्ते होंगे' और उस दिन तुम्हारे पालनहार के तख्त को आठ फिरिश्ते अपने ऊपर उठाये होंगे' यह आसमान पर तख्त और उस तख्त पर अल्ला की स्थिति भी उसके एक देशी होने का स्पष्ट प्रमाण है।

इसी प्रकार शुद्ध आत्मस्वरूप से भी परमात्मा का वर्णन इन दोनों धर्म पुस्तकों में नहीं पाया जाता है। वस्तुतः पहले पहल मनुष्य को चेतनता का विचार चेतन व्यक्तियों से ही उत्पन्न होता है, इसलिये वह पहले ईश्वर को भी एक व्यक्तिविशेष ही मानता है, और सूर्य्य चन्द्र तारों को उदय करना, मेघों को उत्पन्न करना. और वृष्टि करना आदि उसके कर्म समझता है. इसलिए उसको आकाश में कल्पना करता है। पर भूमि में भी उसके राज्य और शक्ति के कार्यों को स्वीकार करता है। जब परिपक्व बुद्धि से सर्वान्तरात्मा के रूप में उसको जानता है, तब ईश्वर को सर्वव्यापक आत्मा के रूप में जानता है।

विषय—ईश्वर का कोई आकार नहीं

'जिसमें आकार (लम्बाई चुड़ाई गुलाई आदि) होगा, वह वस्तु अवश्य किसी एक स्थान में रहेगी, ईश्वर किसी एक स्थान में नहीं, वह सर्वव्यापक है, इसलिए उसका कोई आकार नहीं। अतएव वह साकार नहीं, निराकार है। निराकार होने से ही वह परमाणुओं का भी अन्तरात्मा होकर उन में रचनानुकूल क्रिया उत्पन्न करता है। और साकार मानने में कई दोष भी आते

हैं। जैसाकि-श्रीस्वामीजी महाराज लिखते हैं "(प्रश्न) ईश्वर साकार है, वा निराकार ? (उत्तर) निराकार, क्योंकि जो साकार होता, तो व्यापक न होता, जो व्यापक न होता, तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते, क्योंकि परिमित वस्तु में गुण कर्म स्वभाव भी परिमित रहते हैं। तथा शीत उष्ण क्षुधा तृषा और रोग दोष छेदन भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता, इस से यही निश्चित है, कि ईश्वर निराकार है, जो साकार हो, तो उसके नाक कान आंख आदि अवयवों का बनाने हारा दूसरा होना चाहिये, क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है, उसको संयुक्त करने वाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिये। जो कोई यहां ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही अपना शरीर बना लिया तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था, इसलिए परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता, किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है॥

(सत्यार्थ-प्रकाश समुल्लास ७)

विषय-ईश्वर एक अद्वितीय है

जगत्कर्त्ता ईश्वर एक अद्वितीय है, वा अनेक हैं। इस विषय पर वाचस्पति मिश्र ने योग भाष्य की टीका में इस प्रकार विचार किया हैं—

(प्रश्न) ईश्वर एक है वा अनेक हैं ?

(उत्तर) एक है।

(प्रश्न) बराबर जोड़ के अनेक ईश्वर मानने में क्या दोष है ?

(उत्तर) यह दोष है, कि जब एक ही वस्तु के विषय में

एक की इच्छा हो, कि यह शीघ्र नष्ट होजाय, और दूसरे की इच्छा हो, कि यह चिरकाल तक बनी रहे, तो उनमें से एक का अभिप्राय पूरा होने पर दूसरे में न्यूनता आजायगी। अब जिस में न्यूनता है, वह ईश्वर नहीं।

(प्रश्न) अच्छा यदि दोनों का अभिप्राय पूरा न हो, वा दोनों का ही पूरा होजाय, तब तो किसी में न्यूनता न होगी?

(उत्तर) दोनों का अभिप्राय पूरा न होने में बराबरी तो दोनों की बनी रहती है, पर ईश्वर ऐसे दोनों में से कोई भी नहीं माना जासकता। ईश्वर वह है, जिसका अभिप्राय पूरा होने में कोई रुकावट नहीं होती। रहा यह कि दोनों का अभिप्राय पूरा हो, सो हो नहीं सकता, क्योंकि दोनों का अभिप्राय परस्पर विरुद्ध है।

(प्रश्न) वे सर्वज्ञ और गम्भीरप्रकृति हैं, उन का अभिप्राय एक दूसरे के विरुद्ध होता ही नहीं, जो एक की इच्छा होती है, वही दूसरे के भी होता है, इसलिए सब की इच्छा पूरी हो जाती है?

(उत्तर) जब एक की इच्छा विद्यमान है, और वह अवश्यमेव पूरी भी होनी है, तो उसी एक इच्छा से सारा काम चल सकता है, दूसरी व्यर्थ इच्छाएं साथ लगाने की आवश्यकता नहीं।

(प्रश्न) अन्तरंग सभा (पंचायत) की तरह वे सारे मिल कर ही काम करते हैं अकेला कोई कुछ नहीं करता, इस तरह अनेक ईश्वर मानने में तो कोई दोष नहीं आयगा?

(उत्तर) तब अन्तरंग सभा की तरह उन में से कोई भी ईश्वर नहीं माना जायगा, क्योंकि उन में से कोई भी स्वतन्त्र न होगा।

(प्रश्न) अच्छा तो ऐसा मानेंगे, कि वे वारी २ से जगत् पर ईशान करते हैं और अपने २ ईशनकाल में उन को पूरी स्वतन्त्रता होती है ।

(उत्तर) दूसरे के ईशनकाल में तो उन की स्वतन्त्रता छिन जाती है, तब वे नित्येश्वर न हुए, और जिसका ईशान अनित्य है, वह ईश्वर नहीं है । इस लिए ईश्वर एक अद्वितीय ही हो सकता है, उस के बराबर और कोई नहीं हो सकता, और जब बराबर ही नहीं, तो बढ़ कर कैसे हो सकता है। और बढ़ कर इस लिये भी नहीं हो सकता, जो बढ़ कर होगा, वही ईश्वर होगा ?

(२) पूर्व सिद्ध कर आए हैं, कि ईश्वर सर्वव्यापक है। सर्व व्यापक एक ही हो सकता है। अनेक वही होते हैं, जो एक देशी हों ।

वेदका सिद्धान्त--ईश्वर एक अद्वितीय है ! इस सिद्धान्त का वेद में बड़े ओजस्वी शब्दों में वर्णन है ।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ १८ ॥
स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणिति यच्च न ॥१९॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥२०॥

(अथर्ववेद १३ । ४)

(ईश्वर) न दूसरा है, न तीसरा है, न ही चौथा कहलाता है ॥ १६ ॥ न पांचवां है, न छटा है, न ही सातवां कहलाता है

॥ १७॥ न आठवां है, न नवां है, न ही दसवां कहलाता है ॥ १८॥ वह उस सब को देखता है, जो सांस लेता है, और जो नहीं लेता है ॥ १९ ॥ वह सर्व शक्ति है, वह एक है, एकत्व है और एक है ॥ २० ॥

अंक सारे एक से लेकर दस तक ही हैं, शेष सारे अंक इन्हीं के मेल से वनते हैं,सो यहां दो से लेकर दसतक संख्याओं का निषेध करके एक ठहराने का यह अभिप्राय है, कि एक के सिवाय उसे और कोई संख्या नहीं दे सकते। वह एक है। पर जैसे अनेक तत्वों से मिलकर वस्तु बने, वैसा एक वह नहीं, किन्तु एकही तत्व है। इस से बढकर एकता का वर्णन और क्या होसकता है।

स रायस्खामुपसृज गृणानः पुरुश्चन्द्रस्य त्वमिन्द्र वस्वः। पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा (ऋ० ६ । ३६ । ४)

हे इन्द्र! हमारी स्तुति को स्वीकार कर, और हमारे लिए ऐश्वर्य का प्रवाह बहादे, जो ऐश्वर्य सब के आनन्द और वास का हेतु हो, तू ही सारे जनों (प्रजाओं = मखलूक) का अद्वितीय पति है, तू ही एक सारे भुवन का राजा है।

न किरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्। नकिरेव यथा त्वम्। (ऋ० ४ । ३० । १)

हे पाप और अज्ञान के नाश करने वाले! हे इन्द्र तुझ से कोई बढ़कर नहीं है, न तुझ से कोई बडा है, न ही कोई तेरे तुल्य है।

इमे उ त्वा पुरुशाक प्रयज्यो जरितारो अभ्यर्च-न्त्यर्कैः। श्रुधी हवमाहुवतो हुवानो न त्वावाँ अन्यो अमृत त्वदस्ति। (ऋ० ६। २१। १०)

हे सर्वशक्ति! हे सब के पूजनीय! ये तेरे भक्त (हम) स्तोत्रों से तेरी स्तुति कर रहे हैं। हम तुझे पुकार रहे हैं, अपने पुकारने वालों की टेर सुन, हे अमृत तेरे सिवाय तेरे जैसा और कोई नहीं है।

अयुजो असमो नृभिरेकः कृष्टीरयास्यः। पूर्वीरति प्रवावृधे विश्वा जातान्योजसा भद्रा इन्द्रस्य रातयः (ऋ० ८। ५१। २)

वह एक है, उस के कोई बराबर नहीं, वह अपने काम में किसी की सहायता नहीं लेता और न कभी थकता है, वह अपनी शक्ति के साथ अपनी सनातन प्रजा से बहुत बढ़ा हुआ है वह इन सारी व्यक्त वस्तुओं से बढ़ा हुआ है, उस इन्द्र के दान कल्याण कारी हैं।

उपनिषद् भी इस विषय को बलवत् वर्णन करते हैं, जैसे—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (श्वेता० ६। ११)

वह देव एक है, सारे भूतों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापक है, सब भूतों का अन्तरात्मा है, कर्मों का अधिष्ठाता है, सब भूतों का आधार है, साक्षी है, चेतन है, केवल (शुद्ध = एक तत्त्व) है और निर्गुण है।

उपनिषद्वत् और भी सभी शास्त्र एक ही ईश्वर के मानने वाले हैं।

ईसाइयों और मुसलमानों का सिद्धान्त--ईश्वरवादी सभी एक ही ईश्वर के मानने वाले हैं। कुरानशरीफ में ईश्वर की एकता का बहुधा वर्णन आया है, बाइबल में भी ऐसा ही है, किन्तु ईसाई जैसा कि त्रित्व में एकत्व मानते हैं, कि बाप बेटा और पवित्रात्मा तीनों एक हैं, यह उसकी एकता में त्रुटि लाता है। तीनों एक कहने से यह तो प्रतीत होता है, कि वस्तुतः अनेक ईश्वर मानना उन को भी अनभिमत है, तथापि १+१+१=१ यह गणित चिन्तनीय ही है।

हां आर्यधर्म में माने हुए ईश्वर के एकत्व पर मुसलमानों के कुछ आक्षेप हैं, उन पर यहां विचार करना आवश्यक है॥

शंका—आर्यधर्म ईश्वर को वाहदहुलाशरीक (एक अद्वितीय) नहीं ठहराता, क्योंकि वह जीव और प्रकृति को भी अनादि मान कर उस के साथ शरीक बनाता है।

समाधान—वाहदहुलाशरीक का यही अर्थ है, कि वह एक है, और उस के कोई बराबर नहीं। सो आर्यधर्म में बल पूर्वक प्रतिपादन किया है, जैसा कि दिखला चुके हैं, क्योंकि जीव और प्रकृति ईश्वर के अधीन हैं, अतएव उस के तुल्य नहीं। और यदि लाशरीक के यह अर्थ लो, कि उस के सिवाय दूसरा कोई था ही नहीं, क्योंकि जब दूसरा साथ माना, तो शरीक तो होगया, तो इसका उत्तर यह है, कि लाशरीक का अर्थ तो यही है, कि उस के बराबर कोई नहीं, पर यदि यह अर्थ मानलें, कि उस के सिवाय कोई नहीं, तब अब तो ईश्वर लाशरीक न हुआ,

क्योंकि अब तो उस के साथ अनेक जीव और अनेक ब्रह्माण्ड भी हैं ।

शंका—हम तो यह मानते हैं, कि ये उसके उत्पन्न किये हुए हैं, वह अपने आप है, इसलिए वह लाशरीक है ।

समाधान—तब तो यही अर्थ आ निकला, कि उस के बराबर कोई नहीं, सो हमारे पक्ष में भी ठीक है ।

शंका—अनादि होने में तो जीव और प्रकृति ईश्वर के बराबर होगए ।

समाधान—अनन्त होने में तुम्हारे मत में भी जीव ईश्वर के बराबर हैं,क्योंकि जीव का नाश तुम भी नहीं मानते । सो यदि अनादिता में जीवों की शिराकत से ईश्वर लाशरीक नहीं ठहर सकता, तो अनन्तता में शिराकत से लाशरीक कैसे ठहर सकता है । और यदि जीवों को अनन्त मान कर भी ईश्वर को लाशरीक मानते हो, तो अनादि मानकर भी लाशरीक मानने में कोई बाधा नहीं आती । और देखो ईश्वर भी चेतन, जीव भी चेतन । ईश्वर भी खालिक, (उत्पन्न करने वाला) हम भी खालिक, जैसा कि क़ुरान में कहा है ' अल्लः खालिकों में श्रेष्ठ है', तौभी ईश्वर लाशरीक है, इसलिए लाशरीक के अर्थ यही हैं, कि सर्वांश में कोई उस के बराबर नहीं । यही हम मानते हैं ।

शंका—हम जब यह मान लेते हैं, कि जीव उस के उत्पन्न किये हुए हैं, और जीवों की चेतनता अनन्तता भी उस की दी हुई है, तब तो वे शरीक नहीं कहला सकते । पर तुम्हारे मत में तो जैसे ईश्वर अपने आप है, वैसे ही जीव भी अपने

आप हैं, जैसे ईश्वर अपने आप चेतन है, वैसे जीव भी अपने आप चेतन हैं, यह शिराकत है, जो हम नहीं मानते।

समाधान—इस से भी तो यही सिद्ध होता है, कि इस अंश में जीव ईश्वर की बराबरी नहीं कर सकते, इस लिए उस के शरीक नहीं कहला सकते। यद्यपि चेतन, खालिक और अनन्त होने में उसके बराबर भी हैं। ऐसा ही हम भी कहते हैं, कि सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिता, सर्वनियामकता आदि कई धर्मों में जीव ईश्वर की बराबरी नहीं कर सकते, इस लिए शरीक नहीं कहला सकते, यद्यपि अनादिता में बराबर भी है॥

किञ्च—यदि ईश्वरके तुल्य स्वतन्त्र सत्ता रखने से जीव ईश्वर के शरीक बनते हैं, तो तुम्हारे मत में भी जीव ईश्वर के तुल्य स्वतन्त्रकर्ता होनेसे ईश्वर के शरीक ठहरते हैं। और यदि कहो, कि करने की शक्ति तो ईश्वर की दी हुई है, तौ भी उस शक्ति का प्रयोग तो वे अपनी स्वतन्त्रता से ईश्वराज्ञा के विरुद्ध भी करते हैं, यहां तक कि खुदा के साक्षात् आज्ञा देने पर भी शैतान ने आदम को सजदः न किया, प्रत्युत खुल्लमखुल्ला द्रोही बन बैठा है, और लोगों को बहकाता रहता है।

वस्तुतः शिराकत का सम्बन्ध काल से नहीं, दर्जे से है। छोटे बड़े भाई एक जितनी आयु के न होकर भी दर्जे में एक-तुल्य होने से शरीक हैं। मिलकर व्यापार करने वाले छोटी बड़ी आयु के सब आपस में शरीक हैं, पर पिता पुत्र शरीक नहीं, देखो यहां भी पिता पुत्र के आत्मा का उत्पादक नहीं। गुरु और शिष्य समवयस्क होकर भी शरीक नहीं कहलाते, इस से स्पष्ट है, कि शिराकत का काल से कोई सम्बन्ध नहीं, दर्जे से ही है। सो जीव भी दर्जे में ईश्वर से अत्यन्त नीचे हैं।

जैसाकि पूर्व दिखला दिया है। यद्यपि जीव अनादि है, पर वह अनादि से ही ईश्वर के अधीन भी है । ईश्वर ही उसके लिए भोग और मोक्ष के उपयोगी साधन उपसाधन अनादि से रचता चला आता है । इसी लिए ईश्वर की पदवी पिता की है, और जीव की पदवी पुत्र की है। अतएव अद्वितीय वा लाशरीक का यही अर्थ है, कि उसके बराबर कोई दूसरा नहीं। और वस्तुतत्त्व भी यही है, कि तीनों अनादि हैं, पर गुण कर्म स्वभाव में एक तुल्य नहीं, जैसाकि पूर्व निरूपण कर आए हैं।

शंका—जब तीनों स्वयम्भू हैं, अपनी सत्ता में दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, तो फिर ईश्वर को क्या अधिकार है, कि दूसरे दोनों पर शासन करे॥

समाधान—स्वयम्भू होने में एक समान होने पर भी उनके धर्मों में बड़ा भेद है। प्रकृति अचेतन है, जीव और ईश्वर चेतन हैं। जीव अणु है, ईश्वर विभु है, जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पशक्ति है, ईश्वर सर्वशक्ति है, ईश्वर प्रकृति और जीवका अन्तरात्मा है, इस प्रकार ईश्वर स्वरूप ज्ञान और शक्ति में ज्येष्ठ होने के कारण प्रकृति और जीव पर शासन करता है।

शंका—धर्मों में भेद ही क्यों है, जब सत्ता में समान है।

समाधान—भेद स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं, 'क्यों' का प्रश्न कृत्रिम पर हो सकता है, स्वभाव पर नहीं।

शंका—तथापि ईश्वर को क्या हक है, कि उन पर शासन करे

समाधान—शासन अपने स्वार्थ के लिए नहीं कर रहा है, किन्तु हमारी भलाई के लिए कर रहा है। विना इस रचना के यह सारा जगत् एक धूलिपुञ्ज होता, और आत्मा उसमें अचेत पड़े होते। न हम कोई दृश्य देखते, न भोग भोगते, न मोक्षसुख

अनुभव करते। उसने आत्मा में भोग और मोक्ष के प्राप्त करने की योग्यता और प्रकृति में उस के लिए भोग के साधन और भोग्यरूप में परिणत होने की योग्यता देखी, और इस में हमारी अवस्था की उन्नति देखी, इस लिए उसने हमारे लिए रचना रची और हमें भोग अपवर्ग के सारे उपकरण देकर जगत् में भेज दिया। यह सब उसने हमारे ही कल्याण के लिए किया है, इस में कोई उसका स्वार्थ नहीं। फिर उस ने हमारी उन्नति के लिए हमें स्वतन्त्रता दी है, पर यदि हम उलटे मार्ग चलकर अपनी अवनति करने लग जाते हैं, तो वह हमें सुधारने के लिए ताड़ना करता है, और जब हम सुमार्ग पर चल पड़ते हैं, तो हमें उत्तम पद पर पहुंचा देता है। यह सब भी हमारी ही भलाई के लिए है। सो इस प्रकार शासन करने में परमात्मा हमारा कोई स्वत्व छीनता नहीं, किन्तु हमारे स्वत्व बढ़ाता है, और यह दया वा उपकार उसके स्वभाव में हैं, इस लिए यह आक्षेप नहीं हो सकता, कि हम पर शासन करने का उसको क्या हक़ है॥

विषय—ईश्वर पूर्ण है।

इस जगत् की रचना को जितना २ विज्ञानी जन ध्यान देकर देखते हैं, उतनी ही उस में पूर्णता पाते हैं, इस से निश्चय होता है, कि इस का रचने वाला पूर्ण है, उस में किसी प्रकार की कोई ऊनता नहीं। यही वेद का सिद्धान्त है—

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते (अथ० १०।८।२९)

पूर्ण से पूर्ण निकलता है, पूर्ण पूर्ण से सिञ्चा जाता है, आओ हम उस को जानें, जिस से वह चारों ओर से सिंचा जाता है।

अभिप्राय यह है, कि आदि में जिस प्रभुने इस जगत को रचा है, वह पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण ही पूर्ण वस्तु रच सकता है, और पूर्ण को हरा भरा रखने वाला अर्थात् जीवन शक्ति युक्त रखने वाला भी पूर्ण ही होता है, सो आओ हम उस पूर्ण को जानें जो इस जगत को जीवन देकर हरा भरा रक्खे हुए है।

इसी आशय का सूचक बृहदारण्यक का यह वचन है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्णमेवावशिष्यते (बृह० ५।२।१)

पूर्ण है वह (ब्रह्म) पूर्ण है यह (जगत) पूर्ण से पूर्ण निकलता है, उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही बाकी रहता है *।

ईश्वर कर्म फल दाता है, वही हमारा इष्ट देव है, वही पूजा के योग्य है, इत्यादि विषयों का विचार जीव के गुण कर्म और कर्तव्य के विचार के साथ संगत हैं, सो ये विषय अपने २ प्रकर्ण में विचारे जायें गे, अब यहां जीव विषयक विचार आरम्भ करते हैं। जीव अनादि चेतन तत्त्व है यह सिद्ध हो चुका है। जिन विषयों का विचार अवशिष्ट है, उन का यहां वर्णन करते हैं।

विषय—जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है—

प्रश्न—जीव स्वतन्त्र है, वा परतन्त्र ?

उत्तर—कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र है

प्रश्न—हम तो देखते हैं, कि कर्म करने में भी स्वतन्त्र नहीं,

---

* जो स्वयं पूर्ण है, उस की रचना में त्रुटि नहीं होती, मनुष्य जब उस पूर्ण की पूर्णता का आश्रय लेता है, तो इस की सारी त्रुटियें दूर हो जाती हैं, और यह पूर्ण ही बाकी रहता है।

क्योंकि जब तक इस के पास साधन न हों, कोई काम नहीं कर सकता, तलवार न हो, तो काट नहीं सकता, चाकू न हो तो पैन्सिल नहीं घड़ सकता॥

इस प्रकार जब हरएक काम में उसे किसी न किसी साधन के अधीन होना पड़ता है, तब स्वतन्त्र कैसे ?

उत्तर—हां निःसन्देह साधनों की इस को आवश्यकता है, पर यह साधनों के अधीन नहीं, प्रत्युत साधन इसके अधीन होते हैं, अतएव यह स्वतन्त्र है। देखो हम लिखना चाहते हैं, हमें लेखनी पत्रे और स्याही की आवश्यकता है, जब तक ये न हों हम लिख नहीं सकते। पर हम इनके अधीन नहीं, ये ही हमारे अधीन हैं, ये हमारे पास पड़े हों, तो भी लिखने न लिखने में हमारी स्वतन्त्रता है। हम न लिखें तो ये हम से पकड़ कर लिखवा नहीं सकते। इसीका नाम स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता इन साधनों में नहीं, हम लिखना चाहें, तो पकड़कर इनको काम में लगा देते हैं। सो काम करने में साधन परतन्त्र और कर्ता स्वतन्त्र होता है। जैसाकि पाणिनि ने कहा है—**स्वतन्त्रः कर्ता** अष्टा० १।४।५४ जो कर्म करने में स्वतन्त्र है, वह कर्ता है।

प्रश्न—अच्छा, तो जो काम हम से कोई दूसरा पुरुष करवाता है, उस में तो हम स्वतन्त्र नहीं, तब उसके कर्ता तो हम नहीं ठहरेंगे ?

उत्तर—उसके कर्ता भी ठहरोगे, क्योंकि करने में वहां भी तुम स्वतन्त्र हो। वह तुम्हें कहता है, यह काम करो। तुम उसे करो न करो तुम्हारी स्वतन्त्रता है, एक पुरुष तुम्हें कहता है, मुझे पत्र लिख दो, अब तुम यदि उपकारदृष्टि से उसको लिख देते हो, तो यह ऐसा कर्म है, जैसे तुम किसी गिरे हुए को

अपने आप उठाते हो, भेद केवल इतना है, कि एक जगह पर तुम्हें क्या उपकार करना है, इसका अपने आप पता लगा है। दूसरी जगह पर उसके कहने से लगा है। पर जैसे गिरे हुए के उठाने न उठाने में तुम स्वतन्त्र हो, वैसे ही उसके कहने पर भी उसको पत्र लिख देने और न लिख देने में तुम स्वतन्त्र हो। और यदि तुम इसी तरह लिहाज से वा लोभ से लिखते हो, तो भी स्वतन्त्र हो, और भय से लिखते हो, तो भी स्वतन्त्र हो, जैसे अग्नि से बचने में।

प्रश्न—जब कोई प्रबल पुरुष बलात् हम से लिखवाता है, तब तो हम स्वतन्त्र नहीं होते, अतएव उस कर्म के तो हम कर्त्ता नहीं हो सकते?

उत्तर—यद्यपि ऐसे अवसर पर तुम डरके मारे काम करते हो, पर करने में तुम वहां भी स्वतन्त्र हो, ऐसे अवसर पर यदि तुम्हारा आत्मा विपत्ति वा मृत्यु को झेलने के लिये तय्यार हो जाय, तो तुम अपनी स्वतन्त्रता को अनुभव कर लोगे, न केवल तुम ही, अपितु सारा जगत् तुम्हारी स्वतन्त्रता को अनुभव कर लेगा। देखो रावण जैसे बली राजा के बस में पड़ी हुई सीता ने धर्म में अपनी स्वतन्त्रता दिखलादी, हकीकत और चंदे ने मृत्यु के सम्मुख भी धर्ममें अपनी स्वतन्त्रता दिखलादी। इसी से जान लो, कि अत्यन्त संकट के समय भी मनुष्य की स्वतन्त्रता उस के अपने हाथ में होती है।

प्रश्न—अच्छा, कल्पना करो, एक पुरुष ने किसी के हाथ में चाकू दिया, और फिर उसके हाथ को घसीट कर उसके हाथ से दूसरे की रान में चाकू चुभो दिया, वहां तो उसकी स्वतन्त्रता न रही?

उत्तर—यह तो काम ही उसने नहीं किया,यह काम तो किया है दूसरे पुरुष ने,जिसने उसका हाथ पकड़कर चुभोया है। यह उस का काम ऐसा ही है, जैसे दस्ते से पकड़कर वा लकड़ीमें चाकू जड कर उस लकडी को पकडकर कोई किसी की रान में चुभोदे, ऐसा ही उस के हाथ में जड कर उस के हाथ को पकड कर उसने चुभो दिया है। सो जिसने काम किया है, वह यहां भी स्वतन्त्र है, जिस ने किया ही नहीं, उस की स्वतन्त्रता कैसी। जबतक मनुष्य की अपनी इच्छा न हो, वह कर नहीं सकता, उस समय यदि कोई बलात् हमारे शरीर को काम में जोड़ले, तो वह काम जोड़ने वाले के आत्माका होगा, न कि हमारे आत्मा का। हां जब हमारी अपनी इच्छा हो जाय, चाहे भयसे वा लोभ से ही क्यों न हो, तब हम उस कर्म के कर्ता बन जायेंगे। और हमारी इच्छा सर्वथा हमारे अधीन है (शरीर चाहे पराधीन भी हो जाय, तो भी हमारी इच्छा हमारे ही अधीन है) इस लिए कर्म करने में हम स्वतन्त्र हैं ?

प्रश्न—तथापि मनुष्य अपनी परिस्थिति के अधीन तो अवश्य होता है, जैसी उस की परिस्थिति (चारों ओर की दशा) होती है, वैसे ही काम करता है चोरों में रहने वाला चोर और जवारियों में रहने वाला जवारिया बन जाता है। अब जो चोरों में रहने से चोर, और जवारियों में रहने से जवारिया बना है। यदि वे दोनों उत्तम परिस्थिति में रहते, तो वे चोर जवारिये के स्थान विद्वान् धर्मात्मा वा व्यापारी बन जाते। इसी प्रकार भूख से तंग आकर एक पुरुष चोरी करता है, यदि उस की दशा ऐसी न बिगड जाती, कि वह भूख से तंग आजाता, तो कभी चोरी न करता। सो इस प्रकार जब मनुष्य अपनी परि-

स्थिति के अधीन काम करता है, तो स्वतन्त्र कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—यह सत्य है, कि बहुधा मनुष्य अपनी परिस्थिति के प्रभाव में आजाता है, पर वह अपनी स्वतन्त्रता को कभी नहीं खोता । वह चोर और जवारियों के संग को छोड सकता है, जैसा कि कभी २ देखा जाता है । और वह उन में रहता हुआभी उन दोषों से बचा रह सकता है और ऐसा भी बहुधा देखा जाता है । और भूख से तंगी तो क्या, भूखे रह कर मरते दम तक भी एक पुरुष चोरी का भाव भी मन में नहीं लाता है । अतएव पुरुष की स्वतन्त्रता को तो परिस्थिति भी नहीं छीनती, चोरों में रह कर भी चोरी करने में स्वतन्त्र होता है, जब तक उस की अपनी इच्छा नहीं होती, तब तक वह कभी उस काम को नहीं करता, हां वैसी परिस्थिति में अपनी इच्छा ही वैसी हो जाने की अधिक संभावना है, इस लिए वह हेय अवश्य है, पर स्वतन्त्रता की बाधक नहीं । पकड कर परिस्थिति भी मनुष्य को किसी काम में नहीं लगाती ?

प्रश्न—तथापि मनुष्य अपनी प्रकृति के तो सर्वथा अधीन होता है, जिसको जिस व्यसन की बाण पड़ जाती है, उस से वह छूट नहीं सकता है । अतएव कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

(गीता ३ । ३४)

सब लोग अपनी प्रकृति के अनुसार काम करते हैं, ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुरूप काम करता है, उसमें निग्रह क्या करेगा ।

उत्तर—प्रकृति के अनुसार काम करने का यह तात्पर्य्य है, कि जो स्वभाव से शूरवीर है, वह कभी भीरुता नहीं दिखलाता, जो स्वभाव से उदार है, वह कभी कंजूसी नहीं दिखलाता। यह तात्पर्य्य नहीं, कि जिसको चोरी वा जुए की बाण पड़ जाती है, वह उसको छोड़ नहीं सकता। यद्यपि बाण का छूटना दुःसाध्य तो है, पर असाध्य नहीं। नामी चोरों और जुवारियों के मन पर कभी ऐसी चोट लगती है, कि वह फिर कभी आयु भर उसका नाम नहीं लेते। कभी २ किसी महापुरुष के प्रबोधने से पापी से पापी जीवन ऐसे धर्मात्मा बन जाते हैं, कि लोग देखकर चकित रह जाते हैं। कभी २ स्वतः ही मन पर ऐसी चोट लगती है, कि पापमय जीवन पुण्यमय बन जाता है। इस से सिद्ध है, कि मनुष्य अपनी बाण के छोड़ने में भी सर्वदा स्वतन्त्र है। किञ्च—प्रकृति और बाण में बड़ा भेद है। शौर्य मनुष्य की प्रकृति में होता है, पर डाके मारना उस की प्रकृति में नहीं होता। वह अपने शौर्य की सफलता डाके मारने में भी दिखला सकता है, और धर्मयुद्ध में भी दिखला सकता है, इस में उस की स्वतन्त्रता है। इसी प्रकार उदारप्रकृति पुरुष धर्म कार्यों में भी उदारता दिखला सकता है, और भांड भडुवों को धन लुटाने में भी दिखला सकता है, इस में उसकी स्वतन्त्रता है। इस लिए प्रकृति के अनुसार काम करने में भी मनुष्य जो २ काम करता है, वह अपनी स्वतन्त्रता से ही करता है।

प्रश्न—*करणकारण परमेश्वर आप है, जीव तो निमित्तमात्र है। जो कुछ करवाता है, परमेश्वर आप करवाता है। करे

* सत्यार्थ प्रकाश के आधार पर

करावे आपें आप । नहि मानुस के कछु हाथ । जब जीव हर एक काम ईश्वर की प्रेरणा से करता है, तो स्वतन्त्र कैसे ?

उत्तर-ईश्वर करवाता और जीव उसकी प्रेरणा से करता, तो जीव पाप पुण्य का भागी न होता । जैसे सैनिकजन राजा वा सेनपति की आज्ञा वा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मारके राजा वा सेनापति के अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा वा अधीनता से काम सिद्ध हों, तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे । जब सारे ही काम ईश्वर की प्रेरणा से हों, तब पाप और पुण्य का भेद ही न हो, और यदि माना भी जाय, तो उसका फल भागी परमेश्वर हो, न कि जीव । और परमेश्वर की दृष्टि में तो पापी और पुण्यात्मा में कोई भेद न हो, बल्कि पापी अच्छा हो, क्योंकि ईश्वर की प्रेरणा तो दोनों ने एक जैसी मानी है, इस में किसी की विशेषता नहीं, किन्तु पापी इस बात में विशेष है, कि जहां पुण्यात्मा ने जगत में यश दिलाने वाली आज्ञा पूरी की है, वहां पापी ने निन्दा दिलाने वाली आज्ञा भी पूरी कर दिखलाई है । पर ऐसा न कोई मानता है, न युक्ति युक्त है । किन्तु जीव अपने कर्मों का फल भोगता है, और ईश्वर भुगाता है, यही युक्तियुक्त है, और ऐसाही माना जाता है । और यह तभी बन सकता है जब जीव ईश्वराधीन होकर नहीं, किन्तु स्वतन्त्र रहकर काम करे ।

प्रश्न-जो परमेश्वर जीव को शरीर और इन्द्रिय न देता, तो जीव कुछ भी न कर सकता, इस लिए परमेश्वर की प्रेरणा ही से जीव कर्म करता है ?

उत्तर-यद्यपि शरीर और इन्द्रिय बनाये हुए ईश्वर के हैं, पर वे हैं जीव के अधीन । ईश्वर ने बना कर जीव को देदिये हैं । जीव अपनी इच्छा के अनुसार उन से काम लेता है । जैसे

खानि से किसी ने लोहा निकाला, उस से एक व्यापारी ने खरीदा, उस से लोहार ने खरीद कर तलवार बनाई,वह तलवार लोहार से किसी ने मोल ली, फिर उस से किसी को मारडाला। अब जैसे यहां न लोहा निकालने वाला, न व्यापारी, न लोहार, इन में से कोई भी दण्डनीय नहीं, किन्तु तलवार चलाने वाला ही दण्डनीय है। क्योंकि मारने में तलवार ने उसी के अधीन काम किया है। इसी प्रकार ईश्वर रचित भी शरीर और इन्द्रियां काम करने में सर्वथा जीव के अधीन होने से जीव ही स्वतन्त्र कर्ता है, और वही फल भोगता है।

प्रश्न—तौ भी जब आप ही परमेश्वर ने शरीर और इन्द्रिय बना कर दिये हैं, तो उन से हुए पापकर्म का दण्ड तो परमेश्वर न दे?

उत्तर—क्या यदि राजा आप तलवार बनवाकर दे, तो उस से किये अपराध से अपराधी दण्डनीय नहीं होगा, अवश्य दण्डनीय होगा,क्योंकि राजाने उसको अपनी तलवार रक्षा के लिए दी है,न कि निरपराध को मारने के लिए,इसी प्रकार ईश्वर भी हमारी रक्षा और उन्नति के लिए हम को शरीर और इन्द्रियां देते हैं, न कि पाप के लिए। यद्यपि दिये परमेश्वर ने भलाई के लिए हैं,तथापि जीव स्वतन्त्र है, इसलिए उनसे भलाई बुराई दोनों करता है॥

यदि मनुष्य परमेश्वर की प्रेरणा से कर्म करता, तो कभी कोई जीव भी पाप न करता, क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता इस लिए जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है।

वेद का सिद्धान्त ।

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे । मृळा सुक्षत्र मृळय (ऋ० ७।८९।३)

हे महिमा वाले पवित्र मैं अपने संकल्प (मनोबल = इरादे) की दीनता से उलटे मार्ग में चला गया, कृपाकर हे उत्तमराज्य-बल वाले कृपा कर ।

यहां पाप का कारण अपने ही मनोबल की दुर्बलता को बतलाया है । इससे मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र सिद्ध होता है ।

ईश्वर की प्रेरणा से मनुष्य पाप करता है, इस शंका को सर्वथा मिटाने के लिए कहा है, हे पवित्र, अर्थात् तुम तो हे प्रभु पवित्र हो, 'मैं स्वयं ही उलटे मार्ग पर चला गया हूं' मनुष्य को स्वतन्त्र मानने में ही ईश्वर की महिमा है, अतएव यह कहा है हे महिमावाले ।

इस विषय पर वेदान्त २ । ३ । ३३-३६ तक इस प्रकार विचार किया है—

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

आत्मा कर्ता है, शास्त्र के अर्थ वाला होने से है ।

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ।
अग्नये जातवेदसे ॥ (ऋ० ३।८।२०।१; य० ३।२)

भली भांति प्रदीप्त हुए तेजस्वी धन ऐश्वर्य की उत्पत्ति के साधन अग्नि के लिए तीव्र घृत का होम करो ।

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत । (ऋ०८।५।६।८)

पूजो पूजो हे प्रिय बुद्धि वाले पूजो ।

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।
(ऋ० १० । १९१ । २)

इकट्ठे मिलो, सम्वाद करो, जिस से तुम्हारे मन एक ज्ञान वाले हों॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

(अथर्व० ३।३०।२)

पुत्र पिता का आज्ञाकारी बने, माता के साथ एक मन वाला हो, पत्नी पति के लिये ऐसी वाणी बोले, जो शहद से भरी हुई और शान्ति से परिपूर्ण हो॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं ७ समाः।

(यजु० ४०।२)

कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे॥

अग्निहोत्रं होतव्यम्॥ (शत० २।२।२।१८)

अग्नि होम करो।

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः॥ (शत० ११।५।८।३)

वेद पढ़ो।

सत्यं वद धर्मं चर॥ (तै०१।११)

सत्य बोल और धर्म कर

इत्यादि से जो अग्नि होत्र आदि कर्मों का विधान है, और

अक्षैर्मा दीव्यः (ऋ०

जुआ मत खेल

गां मा हिंसीः (यजु० १३।४३)

गौ को मत मार वा सता

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।

(अथर्व० ३।३०।३)

भाई भाई से द्वेष न करे, बहिन बहिन से द्वेष न करे

स्वाध्यायान्मा प्रमदः, प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः, देव पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् (तै०१।११)

स्वाध्याय से मत प्रमाद करना, सन्तान के सिलसिले को मत तोड़ देना, देव कार्य और पितृ कार्य से कभी प्रमाद न करना। इत्यादि से जो जुए आदि का निषेध है, यह विधि निषेध शास्त्र तभी सार्थक हो सकते हैं, यदि आत्मा कर्ता हो। क्योंकि उसी के लिए विधि निषेध करना सार्थक हो सकता है, जो उस कर्म के करने न करने में स्वतन्त्र हो।

किञ्च-एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्र०४।९)

क्योंकि यह विज्ञानात्मा पुरुष देखने छूने सुनने समझने सोचने वाला और कर्ता है। यहां स्पष्ट ही कर्ता कहा है।

विहारोपदेशात् । ३४ ।

घूमने के उपदेशसे

स्वे शरीरे यथा कामं परिवर्तते (बृह०२।१।१८)

अपने शरीर में यथारुचि घूमता है।

यह घूमने में स्वतन्त्रता बिना कर्ता के नहीं हो सकती, इस लिए आत्मा कर्ता है।

उपादानात् । ३५ ।

ग्रहण करने से

प्राणान् गृहीत्वा (बृह०२।१।१८)

—इन्द्रियों को लेकर घूमता है यह ग्रहण करने में स्वतन्त्रता अकर्ता को नहीं हो सकती।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।३६।

कर्म करने में (कर्ता) कथन करने से भी (आत्मा कर्ता सिद्ध होता है) नहीं तो कथन का उलट होता।

विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेपि च (तै०२।५।१)

जीवात्मा यज्ञ करता है, और लौकिक कर्मों को भी करता है। यहां स्पष्ट ही वैदिक और लौकिक कर्मों का आत्मा को कर्ता बतलाया है। यदि कर्ता न होता, तो "विज्ञानं" के स्थान "विज्ञानेन" होता है।

ईसाई और मुसलमानों का सिद्धान्त–

है, कि मनुष्य से जो पाप होता है, वह शैतान उससे करवाता है। इस पक्ष में जीव पाप करने में स्वतन्त्र नहीं ठहरता, अतएव वह पाप का भागी नहीं ठहर सकता। और ईश्वर के विरुद्ध शैतान के मानने में ईश्वर की महिमा में भी बहुत बड़ी कमी आती है।

कुरान शरीफ में स्वयं अल्लः को भी मार्ग से भटकाने वाला बतलाया गया है, जैसाकि कहा है "(हे पैगम्बर) जिन लोगों ने इन्कार किया, उनके विषय में एक बराबर है, कि तुम उनको डराओ, वा न डराओ, वे तो ईमान लाने वाले हैं नहीं, उनके दिलों पर और उनके कानों पर अल्लः ने मुहर लगा दी है, और उनकी आंखों पर परदा पड़ा है, और अन्त में उनको बड़ी यातना होनी है, (सूरत अलबकर रकूअ १)॥

यहां जो यह कहा है, कि अल्लः ने उनके दिलों पर मुहर लगादी है, इस लिये वे ईमान नहीं लाएंगे। इस से स्पष्ट यही सिद्ध होता है, कि वे जो धर्म के विरुद्ध जारहे हैं, इसमें उनका

अपना वस नहीं है, किन्तु अल्लः की इच्छा के वशीभूत हुए ऐसा कर रहे हैं ।

ईश्वर कर्मों का फल देता है ।

जीव कर्म करने में तो स्वतन्त्र है, पर फल भोगने में परतन्त्र है । यह स्पष्ट है, कि मनुष्य पाप तो करता है, पर पाप का फल भोगना नहीं चाहता । यदि फल भोगने में भी मनुष्य स्वतन्त्र होता, तो कभी भी कोई दुःख न भोगता । सो कर्मों का फल भुगाने वाला ईश्वर है । शुभ अशुभ जो २ कर्म जीव करता है, उसका फल उसको ईश्वर देता है ।

वेद का सिद्धान्त—ईश्वर कर्मों का फल दाता है, यही सिद्धान्त वेद का है, जैसे—

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते (ऋ १० । १२१ । २)

मैं हविवाले सोम रस बहाते हुए शुद्धाचारी यजमान के लिए धन (यज्ञ का फल) धारण किये हूं ।

उत यो द्यामति सर्पात् परस्तान्न न स मुच्याते वरुणस्य राज्ञः । दिवस्पशः प्रचरन्तीद मस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् (अथर्व ४ । १६ । ४)

यदि कोई उड़कर द्यौ से भी परे चलाजाय, वह भी राजा वरुण से छूट नहीं सकता है । इसके दिव्यचर जो सहस्रों आंखें रखते हैं, * यहां सदा घूमते रहते हैं, वे इस ब्रह्माण्ड को पूरा२ देखते हैं ।

---

* किसी राजा की वह शक्ति, जिससे वह अपनी प्रजा के गुप्त भेदों को देखता है, चर होते हैं, जो गुप्त रूप में जहां तहां

वेदान्त दर्शन में इस विषय पर इस प्रकार विचार किया है—

फलमत उपपत्तेः (वे० ३ । २ । ३८)

फल ईश्वर से (मिलता है) क्योंकि यही युक्तियुक्त है।

व्याख्या—ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है, वह कर्म और उपासना से आराधना किया हुआ यथायोग्य फल देने के समर्थ हो सकता है, कर्म स्वतः नहीं, क्योंकि कर्म जड़ होने से स्वतः प्रवृत्त होने में असमर्थ है। और कर्म से जो अन्तःकरण पर संस्कार पड़ता है, वह भी जड़ है, स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकता, अतएव उसको भी यथायोग्य फल उत्पन्न करने में चेतन अधिष्ठाता की आवश्यकता है।

प्रश्न—हरएक नियत कारण का फ़ल भी नियत ही है, वह अपने आप उस से उत्पन्न होजाता है, जैसे आहार से क्षुधा-निवृत्ति, सुरा से दुर्मद, ज्वरहर औषध से ज्वरनिवृत्ति। इस प्रकार प्रतिनियत कर्म प्रतिनियत फल देने में अपने आप समर्थ माना जासकता है। चेतन अधिष्ठाता की आवश्यकता नहीं?

उत्तर—आहारादि की न्याईं कर्मों का फल भी यदि रासायनिक फल होता, तब तो ऐसा कहा जा सकता था, पर

घूमते हुए गुप्त बातों का भेद राजा को बतलाते रहते हैं। पर वे चाहें कितने चतुर हों, प्रत्येक स्थान से प्रत्येक भेद का पूरा २ समाचार लेआना उनके लिये असम्भव है। यह त्रुटि जो लौकिक राजा में देखते हो, वह राजा वरुण में नहीं है। क्योंकि जिस शक्ति से राजा वरुण अपनी प्रजाके गुप्त रहस्य देखते हैं, वह इनकी अंतर्यामिता है, वह सर्वत्र परिपूर्ण होकर सबके भीतर से देख रहे हैं, कोई अपराध उनसे छिपनहीं सकता औरकोई अपराधी उनसे भाग नहीं सकता उनकी अप्रतिहत शक्ति को अलंकृत वाणी में सहस्रों आंखों वाले दिव्यचर बतलाया है॥

यह रासायनिक फल नहीं है । एक छोटा बच्चा जब माता के ऊपर मूत देता है, तो पापी नहीं होता, वही कर्म जब बड़ा होकर करता है, तो पापी होता है । पिता को नीचे डालकर उसके देह पर पाओं रखने से पुत्र पापी बनता है, और थके हुए को लताड़ने से पुण्यात्मा बनता है । इस लिए कर्मों का कोई रासायनिक फल नहीं, जो अपने आप मिल जाय, ईश्वर ही यथायोग्य उसको फल देते हैं ।

प्रश्न—अच्छा तो ऐसा मानेंगे, कि हरएक भावना का फल नियत है, उसके अनुसार सब को फल मिलता है ?

उत्तर—निरा भावना पर फल मानें, तो पुण्य की भावना से मद्यमांस मीन मैथुन और मुद्रा का सेवन करने वाले तान्त्रिक और भिन्न धर्मियों को का फिर जानकर मारने वाले गाज़ी, पुण्य फल के भागी हों । किञ्च भावना भी जड़ होने से अपने आप यथायोग्य फल की व्यवस्था नहीं कर सकती ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

सुना हुआ होने से भी

श्रुति भी ईश्वर को ही कर्म फलदाता बतलाती है ॥

विज्ञान मानन्दं ब्रह्मरातेर्दातुः
परायणं तिष्ठमानस्य तद्विदः ॥ (बृ०३।९।२०)

विज्ञान और आनन्द स्वरूप ब्रह्म दानदेने वाले की परमगति और (एषणाओं से उठकर दृढ खड़े हुए अपने जानने वाले की परमगति है । इत्यादि—

'ईश्वर फल दाता है, यही सिद्धान्त ईसाई और मुसल्मानों का भी है' ।

विषय–पुनर्जन्म

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है,पर अपने किये कर्मों के फल भोगने में परतन्त्र है। उसके किये कर्मों का फल उसको ईश्वर देता है,यह बात सिद्ध होचुकी है। अब इस पर यह विचार उत्पन्न होता है, कि ईश्वर कब और क्या फल देता है?

यद्यपि पाप पुण्य का बदला बहुधा इस लोक में भी मिल जाता है। पर यह हम स्पष्ट देखते हैं, कि प्रत्येक पुरुष को उस के प्रत्येक कर्म का फल यहीं नहीं मिल जाता, और कभी २ तो ऐसा भी देखने में आता है, कि घोर अत्याचार करता हुआ भी एक पुरुष फलता फूलता रहता है, और दीर्घ आयु भोगता है, और दूसरा धर्म पर चलने के कारण ही दूसरों से दुःख उठाता रहता है, और छोटी आयु में ही मारा भी जाता है। इससे स्पष्ट है, कि सब कर्मों का फल इसी लोक में नहीं मिल जाता। पर सर्वज्ञ सर्वशक्ति और न्यायकारी ईश्वर के राज्य में ऐसा हो नहीं सकता, कि कोई पुरुष अन्याय करके उसका फल न भोगे, वा उपकार करके उसका बदला न पाए, इस लिए सब धर्मवादी इस बात पर सहमत हैं, कि केवल यही लोक नहीं; किन्तु इस लोक के तुल्य परलोक भी है, जिनकर्मों का फल यहां नहीं मिला, उनका फल अवश्यमेव वहां मिलता है, किया कर्म कोई भी निष्फल नहीं जाता।

वह परलोक क्या है, पुरुष कब वहां पहुंचता है और उस को किस प्रकार क्या फल मिलता है, इस विषय में मतभेद है। ईसाई और मुसल्मान मानते हैं, कि परलोक एक विशेष स्थान का नाम है, जिसके अलग २ दो प्रदेश हैं, एक बहिश्त (स्वर्ग) दूसरा दोज़ख (नरक)। प्रलय तक तो पापी और पुण्यात्मा

सब यहीं रहते हैं, प्रलय के दिन मुरदे फिर जीवित किये जाते हैं, और परमेश्वर के सामने उपस्थित किये जाते हैं, अब उनके इअमाल (पाप पुण्य) तोले जाते हैं, जिनके पापों का पलड़ा भारी निकलता है, वे दोज़ख में डाले जाते हैं, और जिनके पुण्यों का पलड़ा भारी निकलता है, वे बहिश्त में प्रविष्ट किये जाते हैं। दोज़खी तो दोज़ख की आग के इन्धन बनते हैं, जिसमें वे अनन्त काल के लिए झोंके जाते हैं, न वहां की कभी आग बुझेगी, न ही वे उस आग से निकाले जाएंगे, किन्तु सदा २ के लिए उसी आग में पड़े रहेंगे। बहिश्ती बहिश्त के सुन्दर दृश्यों का उपभोग करेंगे, वे बहिश्ती मेवे खाएंगे, और बहिश्ती हूरों (अप्सराओं) के साथ आनन्द मनाएंगे, और सदा २ वहीं रहेंगे। यहां की तरह वहां मौत नहीं आएगी क्योंकि प्रलय के दिन मौत मेंढा बनकर हाज़िर होगी, और वह मार डाली जाएगी। अतएव फिर मौत न दोज़खियों में से किसी की होगी न बहिश्तियों में से किसी की। दोज़खी सदा के दोज़ख में तपा करेंगे, और बहिश्ती सदा के बहिश्त में आनन्द मनाते रहेंगे।

आर्यधर्म इस के विपरीत यह मानता है कि परलोक दूसरा जन्म है, चाहे वह फिर इसी पृथिवी में हो, वा किसी दूसरी पृथिवी में, पर इस जन्म के पीछे फिर जन्म होता है, और वही परलोक है। फिर जन्म का नाम ही पुनर्जन्म है। आत्मा जब इस देह को छोड़ता है, तो वह पहले वायुमण्डल में चला जाता है, और फिर जल्दी ही ईश्वर की व्यवस्था से अपने कर्मों के अनुसार नया शरीर धारण करता है मनुष्य का या किसी अन्य प्राणधारी का। अन्य प्राणधारियों का शरीर तो उग्रपापों का फल भोगने के लिए मिलता है, और फल भोगने के

पीछे फिर मनुष्य का देह मिल जाता है, और मिले जुले कर्मों का फल मनुष्यदेह है । यह जन्म का चक्र तब तक बराबर चलता रहता है, जबतक पुरुष अपने परम पुरुषार्थ (मानुष जीवन के परम आदर्श = मोक्ष) को नहीं पालेता । जब मोक्ष को पा लेता है, तो यह चक्र निवृत्त होता है, और वह परमानन्द को भोगता है ।

यह आर्य धर्म और दूसरे धर्मों में बहुत बड़ा भेद है । सब का आशय तो यही है, कि कर्म निष्फल नहीं जाते, न्यायकारी ईश्वर के राज्य में अपना २ न्याय सब को मिलेगा । पर क्या मिलेगा, इस के दो परस्पर विरुद्ध उत्तर सत्य नहीं हो सकते इस लिए आओ पहले निष्पक्ष हो कर हम इस बातका पता लगाएं कि इन दोनों पक्षों में से कौन सा पक्ष प्रकृतिसिद्ध, युक्तियुक्त और महत्त्व वाला है ।

प्रकृति सिद्ध—(१) हमारा धार्मिक आदर्श चाहे परमेश्वर की ओर से है, चाहे स्वयं मनुष्य ने साक्षात् किया है, पर वह है इतना ऊंचा, कि मनुष्य को उस पर पहुंचने के लिए बड़ा लम्बा जीवन मिलना चाहिये, जैसाकि यूनान के तत्त्ववेत्ता अरस्तु का वचन है "मनुष्य को अपने आदर्श की सिद्धि के लिए पर्याप्त आयु मिलनी चाहिये" अब आदर्श इतना ऊंचा है, कि एक जन्म की आयु तो कितनी ही लम्बी क्यों न हो, आदर्श पर पहुंचने के लिए पर्याप्त नहीं होसकती ।

देखो कई जीवतो जन्म से पहले ही मर जाते हैं, कई जन्मते ही मर जाते हैं, कई बहुत ही छोटी आयु में मृत्यु का ग्रास हो जाते हैं, जो बच कर पूर्ण आयु भोगते हैं, उन में से भी बहुत से पेट के

धन्धों खेती बाड़ी दुकानदारी और क्लर्की में सारी आयु बिता देते हैं, उनको धार्मिक आदर्श पर पहुंचने का अवसर ही नहीं मिलता । जिनको अवसर मिलता है, वे भी आदर्श की यात्रा में ही अपना जीवन बिता देते हैं, जैसाकि उन महापुरुषों के अपने ही वचनों से प्रतीत होता है, कि जो कुछ वे कर पाए हैं उस की अपेक्षा अभी उनको बहुत कुछ करना रह गया है । इस लिए यह निःसन्देह कहना पड़ता है, कि अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति के लिए वर्तमान जीवन अपर्याप्त है । यही तत्त्व वर्तमान पश्चिमी तत्त्ववेत्ताओं के शिरोमणि कांट (कान्त) नेबतलाया है कि " धार्मिक आदर्श धार्मिक जीवन का मुख्य चिन्ह है, जिस जीवन में धार्मिक आदर्श नहीं, वह धार्मिक जीवन कहलाने के योग्य नहीं, मनुष्य के सामने जो धार्मिक आदर्श है, और जिसकी पूर्ति के लिए वह यत्न करता है, वह इतना ऊंचा और इतना महान् है, कि मनुष्य एक जीवन में उसे पहुंच नहीं सकता" सो यदि धार्मिक आदर्श मनुष्यमात्र का समान है,तो उस तक पहुंचने के लिए यह आवश्यक है, कि उसको अनेक जन्म मिलें । यह तत्त्व जिसका कान्त ने अनुमान किया है, आर्य वृद्धों ने सहस्रों वर्ष पहले अनुभव करके कहा था—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।

अनेक जन्मों में सफलता लाभ करता हुआ अन्त में परम गति को पा लेता है ।

बहूनां जन्मनान्ते ज्ञानवान् मांप्रपद्यते (गीता ७।१९

अनेक जन्मों के पीछे ज्ञान वान् परमात्मा को पालेता है । सो मनुष्य की आदर्श जीवन को पाने की अभिरुचि और प्रयत्न इस बात के साक्षी हैं,कि उस को फिर२ जन्म मिलता है ।

इस लिए पुनर्जन्म प्रकृतिसिद्ध है, दोज़ख प्रकृतिसिद्ध नहीं, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति में दुःख से बचने की चेष्टा है,न कि पड़ने की। सदा के दुःख में जा पड़ना उस के प्रकृति सिद्ध आदर्श के सर्वथा प्रतिकूल है।

यह तो आन्तर प्रकृति के विषय में हुआ। अब यदि बाह्य प्रकृति की ओर दृष्टि डालो, तब सारी सृष्टि पुनर्जन्म की पुष्टि करती हुई प्रतीत होती है। देखो पानी भाप बन कर उड़ जाता है, वही भाप ठंडक पाकर मेघ के रूप में प्रकट होती है, वही मेघ अधिक ठंडक पाकर फिर पानी के रूप में आजाता है। यही पानी का पुनर्जन्म है। और यह इस प्रकार फिर २ जन्म लेता रहता है। इसी प्रकार वृक्ष जल कर राख होते हैं, उनके रेणु पृथिवी जल वायु में मिल जाते हैं, उनसे फिर वृक्षों की उत्पत्ति होती है, और यह क्रिया फिर २ होती रहती है। सृष्टि में कोई भी ऐसा विकास नहीं होता, जो बार २ न हो। यह नियम जो इस प्राकृतसृष्टि में सर्वत्र पाया जाता है,यही आत्मा के सम्बन्ध में पुनर्जन्म कहलाता है।

युक्तियुक्त—दोज़ख और बहिश्त क्यों माने जाते हैं? इस लिए, कि उनके बिना ईश्वर की न्यायव्यवस्था नहीं रह सकती। ईश्वर के राज्य में एक मनुष्य पाप तो करता रहे,और उसका फल न पाए, यह अन्याय है। इसी प्रकार एक पुरुष कष्ट सहकर भी धर्म पर चलता रहे, पर उसका फल न पाए, यह अन्याय है। जब परलोक में दोज़ख और बहिश्त मान लिए, तो फल मिलगया, अन्याय न रहा। पुनर्जन्म का भी यही प्रयोजन माना गया है। सो आओ देखें, कि न्यायव्यवस्था किस पक्ष में पूरी उतरती है।

(१) जैसे न्याय इस बात में है, कि शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ का अशुभ मिले, यदि शुभ का फल अशुभ वा अशुभ का शुभ मिले, तो यह न्याय नहीं, अन्याय होगा, वैसे यह बात भी आवश्यक है, कि जितने न्यून अधिक कर्म हों, फल भी उनके अनुसार न्यूनाधिक ही मिले। यदि एक पैसे की चोरी, और दस मनुष्यों की हत्या का दण्ड एक ही हो, तो यह भी न्याय नहीं कहलाएगा। अतएव राज्यव्यवस्था में भिन्न २ अपराधों के अनुसार भिन्न २ दण्ड नियत किये जाते हैं। ऐसे ही ईश्वर की भी न्यायव्यवस्था होनी चाहिये। यह न्यायव्यवस्था पुनर्जन्म में पूरी घटजाती है, क्योंकि, जैसे जिस के कर्म होते हैं, उसके अनुसार उस को शरीर इन्द्रिय मिलते हैं, हरएक अलग २ फल पाता है। पर दोज़ख में यह बात नहीं घटती, क्योंकि दोज़ख सब के लिए एक ही फल है। सो इस पक्ष में घोर से घोर अत्याचारी के लिए जो दण्ड है, वही दण्ड साधारण पापी के लिए भी है। और जो सुख सामग्री एक पूरे त्यागी और पूरे ज्ञानी के लिए है, वही सुखसामग्री साधारण पुण्यकर्मा के लिए भी है। यह व्यवस्था नहीं, अव्यवस्था ही है। ऐसी अव्यवस्था लौकिक राजे भी नहीं करते, राजा वरुण से तो किसी अव्यवस्था की संभावना ही नहीं। पुनर्जन्म में एक तनिक भी अव्यवस्था नहीं रहती, क्योंकि हर एक को अपने कर्मानुसार अलग २ जाति आयु भोग मिलजाते हैं, इस लिए पुनर्जन्म ही युक्तियुक्त है।

(२) जिस प्रयोजन के लिए ईसाई और मुसलमान परलोक में दोज़ख और बहिश्त की कल्पना करते हैं, क्या उसी प्रयोजन के लिए उनको पूर्वजन्म नहीं मानना पड़ता है। दोज़ख मनुष्य

के लिए एक प्रतिकूल सामग्री ही तो है। सो जब परलोक में अनुकूल और प्रतिकूल सामग्री देने में परमेश्वर ने कर्मों के अनुसार भेद करना है, इसी से उसका न्याय स्थिर रहता है, तो उसी न्याय की स्थिरता के लिए यह मानना भी आवश्यक है, कि इसलोक में भी अनुकूल प्रतिकूल सामग्री देने में जो उसने भेद किया है, वह कर्मों के अनुसार किया है। जैसे कि एक आत्मा तो चक्रवर्ती राजा के घर जन्म लेता है। शरीर स्वस्थ मिलता है, साधन ऐसे ही पूरे मिलजाते हैं, कि सहज ही आरोग्य बल विद्या और धर्म में पूरी उन्नति करलेता है, और भी अनेक प्रकार के अनुकूल साधन मिलजाते हैं, जिस से वह अपनी प्रजा का भी सुख बढ़ाता है आप भी सदा सुखी रहता है नीरोग रहता है और दीर्घ आयु भोगता है। दूसरा एक अत्यन्त कंगले नीच पापी के घर में जन्म लेता है और साथ ही लूला लंगड़ा और अन्धा उत्पन्न होता है, जन्म से ही मिरगी जैसा कोई रोग लगजाता है, जितनी देर जीता है, दुःख का जीना जीता है। अब यह जो एक को इतनी बड़ी अनुकूल और दूसरे को अत्यन्त प्रतिकूल सामग्री परमेश्वर ने दी है। इस का कारण एक ही हो सकता है, वह यह, कि एक ने तो पिछले जन्म में बहुत बड़े उत्तम कर्म किये हैं, और दूसरे ने बहुत ही नीच कर्म किये हैं। अब वे अपने कर्मों के अनुरूप फल पारहे हैं। जैसा बोया है, वैसा काट रहे हैं। जैसे आगे परमेश्वर न्याय करता हुआ उसी को अनुकूल सामग्री देगा, जिस ने यहां पुण्य किये हैं, और उसी को प्रतिकूल सामग्री देगा, जिसने यहां पाप किये हैं, इसी प्रकार वह न्यायकारी यहां भी उसी को अनुकूल सामग्री देता है, जिस के पूर्वले पुण्य हैं, और उसी को प्रतिकूल सामग्री

देता है, जिसके पूर्वले पाप हैं । अब इस जन्म से पूर्वले पुण्य और पाप पूर्वजन्म में ही होसकते हैं । इससे सिद्ध है, कि इस जन्म की न्याईं हमारे पहले भी जन्म होचुके हैं । इससे सिद्ध है, कि आत्मा बार २ शरीर को छोड़ता और ग्रहण करता रहता है । यही पुनर्जन्म है ।

(३) जब आत्मा अनादि, प्रकृति अनादि, आत्मा में शरीर धारण करने की योग्यता और प्रकृति में आत्मा के लिए शरीर इन्द्रियरूप में परिणत होने की योग्यता अनादि है । तब यह आवश्यक है, कि अनादि काल से ही इस योग्यता का फल भी प्रकट होता आया हो, क्योंकि कारण सामग्री के होते हुए कार्य का उत्पन्न होना नियत है । यह असम्भव है, कि कारण सामग्री अनादि से चली आती हो, और कार्य कभी न प्रकटा हो । सो सत्य यही है, कि जैसे कारण सामग्री के होते हुए अब जन्म हुआ है, वैसे पहले भी होता चला आया है ।

महत्त्व—महत्त्ववाली बात भी पुनर्जन्म में ही पाई जाती है न कि दोज़ख में । जैसा कि—

(१) सब अपराधों के लिए एक ही दण्ड नियत करदेना ऐसा है, जैसे कोई राजा सब अपराधों के लिए एक ही फांसी का दण्ड नियत कर दे । इसने १० हत्या करडाली हैं, दो फांसी । इसने इसको गाली दी है, दो फांसी । इसने एक पैसा चुराया है । दो फांसी । बस "दो फांसी" के सिवाय जब कोई और दण्ड ही नहीं, तो यह व्यवस्था नहीं, अव्यवस्था है । कोई भी सभ्य गवर्नमिन्ट ऐसी अव्यवस्था नहीं रखेगी, तो ईश्वर ऐसी अव्यवस्था कब रख सकते हैं, कि इसने सैंकड़ों अबलाओं पर अत्याचार किये हैं, और सहस्रों बाल हत्याएं की हैं, झोंको दोज़ख में । इसने तो

निरी चोरी ही की है, हां झोंको दोज़ख में, और यह ईमान नहीं लाया, हां झोंको दोज़ख में। यह क्या व्यवस्था हुई। पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त में हर एक अपने २ कर्मों के अनुसार दण्ड पाता है, जैसा अपराध वैसा दण्ड न न्यून न अधिक पूरा तुला हुआ।

(२) दण्ड का अभिप्राय है अपराधी को सुधारना। पर दोज़ख के दण्ड में यह अभिप्राय सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत यह सिद्ध होता है, कि पापी पर ईश्वर का क्रोध ऐसा भड़कता है, कि उसको सदा के लिए नरक की आग में झोंक देता है, और फिर उसका सदा वहीं जलते दीखते रहना पसन्द करता है। यह एक बड़ी क्रूरता है, जो ईश्वर के दयालु स्वभाव के सर्वथा विपरीत है। पर पुनर्जन्म में दण्ड का प्रयोजन सुधार ही माना गया है, क्योंकि जो खोटे संस्कार मनुष्य के हृदय पर पड़कर उसकी धार्मिक उन्नति के बाधक होते हैं, दण्ड उन संस्कारों का नाश करने से अपराधी का सुधार करता है। यही प्रयोजन वैदिक सिद्धान्त में ईश्वरीय दण्ड का माना गया है। लौकिक दण्ड का भी यही प्रयोजन माना गया है। दण्ड शब्द का अर्थ ही सुधारक है, जो कि सुधरने अर्थ वाले दम धातु से बना है। वैदिक सिद्धान्त में ईश्वरीय दण्ड क्या है, मानों पाप के रोग की चिकित्सा है। ऐसा ही दण्ड ईश्वर की महिमा के योग्य होसकता है।

(३) दोज़ख के दण्ड में अपराधी के लिये कोई आशा नहीं रहती। वह अपनी भूलों पर पछताता है, हाथ जोड़ कर खुदा से प्रार्थना करता है, कि एक बार मुझे फिर जगत में भेजो, मैं कोई अपराध नहीं करूंगा, सदा आपकी भक्ति ही करता रहूंगा, पर खुदा उसको यही उत्तर देगा, कि नहीं, अब

तुम सदा इसी दोजख की आग में जला करो, तुम्हारे बचाव का अब कोई मार्ग नहीं। यह कैसा निराशा वाला, कैसा भयंकर, दृश्य है, पर यह कल्पित नहीं, दोज़ख के दण्ड में ठीक ऐसा ही माना जाता है, जैसा कि लिखा है—

"और लोगों के मरे पीछे बरज़ख है, उस दिन तक, कि उठा खड़े किये जाएंगे। फिर जब सूर (नरसिंघा) फूंकाजायगा, तो उस दिन न तो लोगों में रिश्तेदारियां रहेंगी और न एक दूसरे की बात पूछेंगे। फिर जिनका पल्ला भारी निकलेगा, तो यही लोग अपने मनोरथ पायेंगे, और जिनका पल्ला हलका ठहरेगा, तो यही लोग हैं, कि जिन्होंने अपने ताईं आप नष्ट किया, कि सदा (सदा) दोज़ख में रहेंगे, आग उनके मुंहों को झुलसती होगी, और वे वहां बुरे मुंह बनाये होंगे। (हम उनसे पूछेंगे, (कि) क्या दुनिया में हमारी आयतें तुमको पढकर नहीं सुनाई जाती थीं, और तुम उनको झुटलाते थे। वे कहेंगे, ऐ हमारे परवर्दगार (पालक) हमको हमारे मन्द भाग्यने आ दबाया, और हम गुमराह (मार्ग से भटके हुए) लोग थे। ऐ हमारे परवर्दगार हमको (एक बार) इस (दोज़ख) से निकाले, फिर अगर हम दुबारा ऐसा (अपराध) करें, तो हम बेशक अपराधी। (खुदा) फरमाएगा, (हमारे सामने से) दूर हो, और इसी (दोज़ख) में रहो, और हमसे बात न करो (कुरान सीपारा १८ सूरत अलमोमनून) यह है अत्यन्त निराशाकी बात। इधर पुनर्जन्म की शिक्षा यह है, कि किसी को भी हाथ मल २ कर रह जाना नहीं पड़ेगा, हर एक को उसकी भूलों का दण्ड तो मिलेगा, किन्तु उन्नति का अवसर भी बार २ बराबर मिलता रहेगा, जबतक कि वह पूर्ण उन्नति करके मुक्ति न पाले। सो इस

प्रकार दोज़ख के मानने में तो ईश्वर की महिमा घटती है, और पुनर्जन्म के मानने में उसकी सुव्यवस्था प्रकट होती है।

(४) बहिश्त और दोज़ख के फल में यह एक असमाधेय प्रश्न है, कि जो बच्चा गर्भ में वा बाल्यावस्था में मरजाता है, उसको खुदा बहिश्त में डालेगा, वा दोज़ख में। यदि दोज़ख में डाले, तो क्यों? पाप तो उसने कोई किया नहीं, फिर दोज़ख में क्यों डाले। यदि बहिश्त में कहो, तो पुण्य भी उसने कोई नहीं किया, फिर बहिश्त में कैसे डाले। और बहिश्त में डालने से खुदा पर भी दोनों का आक्षेप होगा, बहिश्ती तो कहेंगे, कि हमने तो बहिश्त बड़े २ उच्च कर्म करके कमाया है, इसको बिना कमाई के क्यों हमारे बराबर किया जाता है, और दोज़खी कहेंगे, कि या खुदा तू हमें भी गर्भ में ही मार डालता, तो हम भी इस दोज़ख से बचजाते। हमारे ऊपर तूने ऐसा उपकार क्यों न किया, जो इस पर किया है। पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त में यह दोष इस लिए नहीं आता, कि यह तो उस के किसी पाप का दण्ड हो गया है, किन्तु जन्म का प्रवाह उसका बंद नहीं हुआ, फिर जन्म लेगा, और कमाई कमाएगा। इस प्रकार ईश्वर की महिमा भी पुनर्जन्म के मानने में है, न कि दोज़ख के मानने में॥

एक जन्मवादियों के प्रश्न।

जब यह सिद्ध होगया, कि पुनर्जन्म ही प्रकृतिसिद्ध युक्तिसिद्ध और महत्व वाला है, तो अब उन आक्षेपों का परिहार करना आवश्यक है, जो एक जन्मवादी पुनर्जन्म पर करते हैं।

(प्रश्न) मनुष्यों में जो जन्म से ही भेद पाया जाता है, उसका कारण पूर्व जन्म नहीं, किन्तु और ही कारण हैं। देखो

पुत्र धनी के घर भी होगा, निर्धन के भी। क्योंकि पुत्र का कारण धन नहीं, और जो कारण है,वह दोनों के पास है, इस लिए दोनों के घर अपने २ कारणों से होगा, और पालना हर एक ने अपना २ पुत्र है, इस लिए स्वभावतः एक का पालन पोषण अच्छा होगा, दूसरे का निकृष्ट, इस में पूर्वजन्म का क्या सम्बन्ध। और अन्धालूला लंगड़ा आदि भी बीज के दोषों से होता है, उस में पूर्व जन्म का क्या सम्बन्ध।

(उत्तर) हाँ लौकिक कारण, इस से पूर्वजन्म में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि प्रश्न यह नहीं कि अन्धा आदि होने का कोई लौकिक कारण है वा नहीं? किन्तु प्रश्न यह है, कि उन शरीरों में जो आत्मा आए हैं, वे तो अपने आप उन में नहीं आमविष्ट हुए, उनको तो परमेश्वर ने भेजा है। सो परमेश्वर ने जो एक को अत्युत्तम और दूसरे को अतिनिकृष्ट शरीर में भेजा है, यह भेद परमेश्वर ने क्यों किया है। इसका एक ही उत्तर होसकता है, कि परमेश्वर ने उनके कर्मों के अनुसार ऐसा किया है। अन्यथा ईश्वर में विषमता और निर्दयता दोष आएगा। विषमता तो यह कि विना कारण एक को सुख और दूसरे को दुःख दिया, और निर्दयता यह, कि विना अपराध दुःख देता है। इसी लिए अन्धा आदि होने के लौकिक कारण होने पर भी उस २ शरीर में भविष्ट होने के कारण अपने २ पूर्वले कर्म ही हैं।

दोज़ख और बहिश्त में भी ऐसा ही मानते हो, कि दोज़ख में दुःख का कारण वहां की आग होगी और बहिश्त में सुखका कारण वहां की नहरें, तथापि दोज़ख वा बहिश्त में डाला हर एक अपने २ कर्मों से जाएगा ठीक ऐसे ही यहां भी समझो।

(प्रश्न) यदि इससे पूर्व भी हमारा जन्म हुआ होता, तो उस की कोई न कोई बात तो याद रहती, पर हमें तो एक भी बात याद नहीं, इससे यही सिद्ध होता है, कि पहले कोई जन्म हुआ ही नहीं।

(उत्तर) स्मरण न रहने से अभाव सिद्ध नहीं होता। अपने जन्म के समय का किसी को भी स्मरण नहीं, तो क्या जन्म हुआ ही नहीं। जन्म तो दूर रहा, पांच वर्ष की आयुतक जो २ काम किये है, उनमें से एक का भी स्मरण नहीं। तो क्या वे पांच वर्ष हुए ही नहीं। सो स्मरण न रहना पूर्वजन्म का बाधक नहीं होसकता। भूलजाने के कई कारण होते हैं। जिनमें से एक काल भी है। चिरकाल होजाने से बात भूल जाती है, किन्तु मृत्यु सब से प्रबल कारण है, जिसके आने पर पहली हर एक बात भूल जाती है, और यह जन्म पूर्वले जन्म की मृत्यु के पीछे हुआ है, इस लिए पूर्वले जन्म की कोई बात याद नहीं रहती। तो भी एक चिन्ह ऐसा भी है, जो पूर्वजन्म की स्मृतिका बोधक है। वह है जन्मते ही जन्तु की आहार में प्रवृत्ति। बछड़े को जन्मते ही जब भूख लगती है, तो वह गौ के थन चूसता है। उसकी इस प्रवृत्ति का हेतु क्या है? यौवन में दूध आदि में चेतन की प्रवृत्तिका हेतु पूर्वाभ्यास की स्मृति होती है, यहां भी चेतन की ही प्रवृत्ति है, इसलिए यहां भी इस प्रवृत्ति का हेतु स्मृति ही होनी चाहिए। क्योंकि चेतन की प्रवृत्ति का स्मृति के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध हम देख चुके हैं, जैसे धूम का अग्नि के साथ है। अब यह स्मृति इस जन्म की नहीं, क्योंकि इस जन्म में तो यह उसका पहला अनुभव है, इस लिए पूर्वजन्म की ही हो सकती है। जब इष्टप्राप्ति के उपाय में प्रवृत्ति और स्मृति का

कार्यकारणभाव निश्चित होगया, तो जहां स्मृति का कार्य देखते हैं वहां स्मृति का अनुमान होता है, अन्यत्र नहीं । यह कोई नियम नहीं, कि जो एक का स्मरण करता है, वह अन्य बातों का भी करे । जिस संस्कार का कोई उद्बोधक होता है, वह संस्कार स्मृतिजनक होता है, और नहीं । इस जन्म में भी अनुभूत वस्तुओं में से किसी की ही स्मृति होती है सबकी नहीं, क्योंकि उद्बुद्ध संस्कार ही स्मृति जनक होता है, अनुद्बुद्ध नहीं । जातमात्र को जो भूख की निवृत्ति के लिये आहार की स्मृति होती है, उसका उद्बोधक अदृष्टपरिपाक है, जिसके फल-भोग के लिए जन्म मिला है । पूर्वजन्म के अन्य संस्कार अनुद्बुद्ध रूप में पड़े रहते हैं । उनके उद्बोधक ज्यों २ मिलते जाते हैं, त्यों २ वे भी उद्बुद्ध होते आते हैं । यह जो बचपन में ही थोडे से इशारे पाकर ही कई राग-विद्या में, कई गणितविद्या में और इसी प्रकार अन्य २ विद्याओं में निपुण होजाते हैं, यहां उनको पूर्वजन्म के संस्कार काम देते हैं । किसी कठिन विषय को स्मरण रखने के लिए वार २ अभ्यास की आवश्यकता होती है । पर जो अभ्यस्त श्लोक चिरकाल तक न बोलने के कारण ऐसा भूल जाए, कि अपने आप कभी स्मरण न आसके । तौभी जब वह किसी के मुख से एक बार भी सुन लें, उसको उसी समय हम दुहरा देंगे । पर जिसके लिए सर्वथा वह श्लोक नया है, वह नहीं दुहराएगा । क्योंकि हमें तो पूर्वले संस्कार काम देंगे, उसके पूर्वले संस्कार ही नहीं । इसी प्रकार जो अल्पप्रयत्न से किसी विषयविशेष में अद्भुत चमत्कार दिखलाता है, उसको पूर्वले संस्कार काम देते हैं । इस सृष्टि में बिना परिश्रम के कोई भी फलभागी नहीं होता ।

'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (ऋ० ४। ३३। ११)
जो मनुष्य थकने तक परिश्रम नहीं करता, उसको ईश्वर सहायता नहीं देता। सो किसी के पिछला परिश्रम काम आरहा है, कोई अब करने लगा है, इतना ही भेद है, ईश्वर का नियम दोनों के लिये एक से परिश्रम का है। इस प्रकार पूर्वले संस्कार अनुमान से तो सिद्ध हैं हैं, पर यदि कोई इन सोए पड़े संस्कारों को जगाकर पूर्वजन्म की बातों का स्मरण करना चाहे, तो उसका उपाय भी अनुभवी योगियों ने बतला दिया है। जैसा कि—**संस्कार साक्षात् करणात् पूर्व जातिज्ञानम्** (योग०) (संयमद्वारा) संस्कारों के साक्षात् करने से पूर्वजन्म (की बातों) का ज्ञान होता है।

वैदिक धर्म की यही तो अद्भुत विशेषता है, कि जो कुछ इसमें माना गया है, उसको निरा विश्वास के तौर पर नहीं मनवाया, किन्तु उसके साक्षात् करने के साधन बतलाए हैं। उन साधनों का अनुष्ठान करके मनुष्य अपने आत्मा और परमेश्वर को भी साक्षात् कर लेता है, इसी प्रकार पूर्वजन्म को भी साक्षात् कर लेता है।

(प्रश्न) न्याय यह तो अवश्य चाहता है, कि अपराधी को दण्ड तो उसका अपराध बतलाकर ही देना चाहिये, ताकि वह फिर वैसा कर्म न करे, और दूसरे भी उससे बचें।

(उत्तर) दण्ड का प्रयोजन पुरुष का सुधारना है। राजा चोर को दण्ड इस लिये देता है, कि वह फिर चोरी न करे। पर हम देखते हैं, कि कई चोर तो दण्ड पाकर सुधर जाते हैं, कई दण्ड से छूटते ही फिर चोरी करने लग जाते हैं। कारण यह है कि राजा किसी के मन से चोरी के संस्कार नहीं मिटा सकता। पर परमात्मा जो दण्ड देते हैं, उससे वे संस्कार ही

मिट जाते हैं, जो उसको चोरी की ओर प्रेरते थे। इस प्रकार जब उसकी रुचि को पलट दिया, तो उसके जितलाने की आवश्यकता ही न रही। मानों जो पाप का फोडा उसके हृदय में उत्पन्न होगया था, उसको चीर फाड मुआद निकाल दवाई लगा कर स्वस्थ कर दिया, यह सारा काम यदि उसकी बेसुधि में किया, तो कोई हानि नहीं।

इस प्रकार पिछली वासना तो यूं मिटादीं, अब नई वासनाएं उस में उत्पन्न न हों, इस के लिए धर्माधर्म का ज्ञान देदिया। परमात्मा इसी तरह अपनी प्रजा की चिकित्सा करते हैं। देखो उनका नियम यह है, कि जब मिथ्या आहार विहार से मनुष्य के शरीर में किसी प्रकार का विष उत्पन्न होजाता है, तो वह रोग के रूप में प्रकट होकर निकल जाता है। जैसे शारीरिक रोग में परमात्मा को यह अभिप्रेत है, कि जो हानिकारक द्रव्य हमारे अन्दर चला गया है, वह टिका न रहे, बाहर निकलजाए। इसी प्रकार आत्मिक रोग में भी उसको यही अभिप्रेत है, कि जो पाप की वासना हमारे अन्दर उत्पन्न होगई है, वह टिकी न रहे, बाहर निकल जाए। जितलाने की आवश्यकता जैसे उसे शारीरिक रोगों में नहीं, वैसे अध्यात्म रोगों में भी नहीं।

पुनर्जन्म न मानने का कारण—चेतन आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में एक स्वतन्त्र तत्त्व है, जो इस शरीर से सर्वथा अलग है, इस शरीर में आया है, और इसे छोड़कर चलाजाएगा। यह विवेक केवल आर्यधर्म में पाया जाता है। दूसरे धर्म इतने ऊंचे नहीं पहुंचे, उन्होंने आत्मा को ऐसा स्वतन्त्ररूप नहीं दिया, किन्तु देहके साथ ही उसकी स्थिति मानी है। इसी

लिए उन में मुरदे को दबाने की प्रथा प्रचलित है, क्योंकि वे समझते हैं, कि प्रलय के दिन यही मुरदे उठा खड़े किये जाएंगे। पर आर्यधर्म के अनुसार आत्मा इस शरीर को छोड़ गया, यह शरीर अब उसके काम नहीं आएगा, अत एव वे उसके शवको जलादेते हैं। अब प्रश्न यह है, कि वह आत्मा कहां रहेगा? आर्यधर्म इसका उत्तर देता है, कि यदि वह आदर्श (मुक्ति) पर पहुंच चुका है, तो यथेष्ट विचरता हुआ परमानन्द अनुभव करेगा, और यदि आदर्श तक नहीं पहुंचा है, तो फिर नया शरीर धार कर फिर प्रयत्न करेगा। दूसरे धर्मों ने जब इस प्रकार आत्मा को शरीर छोड़ देने वाला न माना, तो पुनर्जन्म का ध्यान उनके मन में आही नहीं सकता था। अतएव उन्होंने मुक्ति भी आत्मिक अवस्था नहीं, किन्तु भौतिक सम्पत्ति मानी है, कि वे बहिश्त में इसी तरह शरीर वाले होंगे, उनके लिए भोग्य वस्तुएं नहरें, बाग, मेवे और हूरें होंगी।

पुनर्जन्म मानना क्यों आवश्यक होगया है।

पर अब सबके लिए ही पुनर्जन्म मानना आवश्यक होगया है, क्योंकि अब विद्या ने इस बात का निश्चय करा दिया है, कि गड़े हुए शरीर इसी तरह नहीं रहते, वे मट्टी होजाते हैं। और भौतिक शक्तियों के प्रभाव से उनके रेणु भी बिखर जाते हैं। संभव है, कि एक शव के कुछ रेणु पानी की बाढ़ के साथ नदी में पड़ कर सागर में जापड़ें, और दूसरे बबूल की छाल के रूप में अमेरिका जापड़ें। ऐसी अवस्था में आत्माओं को शरीर से निकल जाने वाले माने बिना, और दोज़ख वा बहिश्त का फल भोगने के लिए नए शरीर धारण करवाए बिना, निर्वाह ही नहीं। यही पुनर्जन्म है। सो जब पुनर्जन्म के बिना फल

मिल ही नहीं सकता, तो फल प्राप्ति के लिए पुनर्जन्म का मानना न्याय्य है ।

किञ्च-जो अब शरीरधारी है, प्रलय के दिन भी शरीर धारी होगा, उसका मरने के दिन और प्रलय के दिन के मध्यवर्ती दीर्घकाल में भी शरीरधारी होकर रहना ही अधिक संभावित है ।

आत्मा को अनादि मानकर तो पुनर्जन्म इस लिए भी मानना आवश्यक होजाता है, कि ईश्वर के राज्य में ऐसा अनुचित प्रबन्ध संभावित ही नहीं कि अनादि काल से तो अबतक आत्मा यूंही पड़े रहे हों, और अभी उनको जन्म मिला हो । और कई अभीतक पड़े भी हों । पर आत्मा को उत्पत्ति वाला मानकर भी ये प्रश्न अखण्डनीय बने रहते हैं, कि परमेश्वर ने एक ही वार सब आत्मा बना दिये हैं, वा साथ२ बनाता रहता है । जब जन्म सबको एकही वार नहीं दिया, कइयों को तो जन्म लेकर बहिश्त पहुंचे भी लाखों वर्ष बीत गए, और कइयों की वारी अभी और अतिचिरकाल तक भी नहीं आएगी, तो उनको पहले ही बनाकर व्यर्थ रख छोड़ने से कोई लाभ नहीं । और यदि साथ २ बनाता रहता है, तो क्या अभीतक उस को इतनी योग्यता प्राप्त नहीं हुई, कि जो आत्मा जगत में आकर निरे पाप कमाते और लोगों को पीड़ा ही देते रहते हैं, ऐसे आत्मा बनाए ही नहीं । पर आत्मा को अनादि मानने और उसका पुनर्जन्म मानने में कोई भी प्रश्न असमाधेय नहीं रहता ॥

—:०:—

वेद का सिद्धान्त

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम् (ऋ० ४।२७।१)

गर्भ में होते हुए मैंने इन देवताओं के सारे जन्मों को जान लिया है। (इससे पूर्व) अनेक लोहे के पुरों (शरीरों) ने मुझे बंद रक्खा, अब मैं बाज बन कर वेग के साथ (उनके बन्धन से) निकल आया हूं।

आशय यह है, कि गर्भ में होते हुए अर्थात् बार २ जन्म ग्रहण करते हुए ही मैंने अपने उत्पादक सूर्यादि देवों की भी उत्पत्ति को जान लिया है, मैंने असली तत्त्व को पा लिया है। इससे पूर्व जैसे कोई लोहे के किले में बंद किया जावे, इस प्रकार मुझे अनेक शरीरों ने बंद रक्खा। अब मैं इन बन्धनों को तोड़ कर निकल आया हूं॥ इस प्रकार मुक्तपुरुष का अनुभव दिखलाते हुए मन्त्र ने अनेक जन्मों के अनन्तर मुक्ति की प्राप्ति दिखलाई है।

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः (ऋ० १०।१६।३)

(हे प्रेत) तेरा नेत्र इन्द्रिय सूर्य को प्राप्त हो, प्राण वायु को। और तू अपने कर्म के अनुसार द्यौ में, वा पृथिवी में वा अंतरिक्ष में (अथवा जलों में) जा, यदि वहां तेरा (भोग) रक्खा है, वा ओषधिओं में शरीरों से प्रतिष्ठित हो।

उपनिषदादिशास्त्र—भी इस सिद्धान्त का सविस्तर वर्णन करते हैं—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्(कठ५।७)

(शरीर, छोड़कर) कई आत्मा तो शरीर धारने के लिए अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार गर्भ में प्रवेश करते हैं, और कई स्थावर जा बनते हैं ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानिगृह्णाति नरोऽपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही (गीता)

जैसे मनुष्य फटे पुराने वस्त्रों को त्याग कर और नए धारण कर लेता है, इसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीरों को त्याग कर और नए धार लेता है ।

विषय—धर्म और अधर्म का ज्ञान

जब ईश्वर कर्मों के अनुसार उत्कृष्ट निकृष्ट फल देता है,तो उस की दृष्टि में अवश्यमेव कई कर्म चंगे और कई मंदे होंगे । तब प्रश्न उत्पन्न होता है, कि यह हम किस तरह जानें, कि यह २ कर्म उस की दृष्टि में चंगा है, और यह २ मंदा है ?

(पूर्वपक्ष) ईश्वर स्वयं परितृप्त है, उसको अपने लिए तो कोई कामना है ही नहीं, जिस से यह कह सकें, कि यह काम उसकी दृष्टि में इस लिए अच्छा है, कि इससे उसका अमुक स्वार्थ सिद्ध होता है, और यह इसलिए मन्दा है, कि इस से उसके अर्थ की सिद्धि में अमुक बाधा आती है । वह जो

कुछ करता है, हमारे ही हित के लिए करता है, इस लिए जिस कर्म में हमारा भला है, वही उसकी दृष्टि में चंगा है, और जिसमें हमारा अहित है, वही उसकी दृष्टि में मन्दा है। और अपने हित अहित के जानने के लिए ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि दी है। सो हर एक मनुष्य अपने लिए भले बुरे का जैसा निश्चय करे, उसी के अनुसार वह कर्म करे, वही ईश्वर की दृष्टि में चंगा और मन्दा होगा। किन्तु अमुक कर्म ईश्वर की दृष्टि में चंगा है, और अमुक मन्दा है, यह नियत नहीं है। सारांश यह कि जो जिसको भला प्रतीत हो, वही उसके लिए धर्म और जो बुरा प्रतीत हो, वही उसके लिए अधर्म है।

(उत्तर) लोक में हम देखते हैं। कि प्रतिनियत कर्म का प्रतिनियत फल ही होता है। चलने से मनुष्य आगे बढ़ता है, और बैठने से विश्राम लेता है। पीने से प्यास बुझती है, और खाने से भूख निवृत्त होती है, मनुष्य के मान लेने से ऐसा कभी नहीं हो सकता, कि चलने से विश्राम ले और बैठने से आगे बढ़े। पानी से भूख और भोजन से प्यास मिटे। इसी प्रकार परलोक के लिए भी प्रतिनियत कर्म का फल प्रतिनियत ही हो सो सकता है, मनुष्य के अन्यथा मान लेने से अन्यथा नहीं हो जाता। इस लिए मनुष्य की अपनी स्वतन्त्र इच्छा धर्माधर्म में प्रमाण नहीं हो सकती है।

(दूसरा पूर्वपक्ष) धर्माधर्म का साक्षी मनुष्य का हृदय है, जिस कर्म के करने में मनुष्य को भय शंका और लज्जा उत्पन्न होती है, वह अधर्म है, और जिस कर्म के करने में उत्साह निर्भयता और प्रसन्नता उत्पन्न होती है, वही धर्म है। चोरी करने

में मनुष्य को भय शंका और लज्जा उत्पन्न होती है और दान देने में निर्भयता उत्साह और प्रसन्नता उत्पन्न होती है, इसलिए चोरी अधर्म और दान धर्म है। यही प्रमाण सर्वत्र धर्माधर्म के निर्णय का हो सकता है।

(उत्तर) भयादि और प्रसन्नता आदि तो किसी कर्म को अधर्म वा धर्म मान लेने का फल है, न कि धर्म और अधर्म के निर्णायक हैं। एक आर्य का आत्मा चाचे की कन्या विवाहने में भय खाता है, मुसल्मान का प्रसन्न होता है। एक जैनी का आत्मा जूं मारने में भय खाता है, और एक मुसल्मान का आत्मा बकरा मारने में भी प्रसन्न होता है। इसलिए भय प्रसन्नता आदि धर्माधर्म में प्रमाण नहीं हो सकते।

(तीसरा पूर्वपक्ष) जिस कर्म से किसी को लाभ पहुंचे, वह धर्म, जिस से हानि पहुंचे, वह अधर्म है।

(उत्तर) यह नियम भी सर्वथा धर्माधर्म का निर्णायक नहीं हो सकता। कई कर्मों में एक को हानि और दूसरे को लाभ होता है, जैसे बिल्ली से चूहे को बचाने में, कइयों में हानि पहुंचाना ही धर्म होता है, जैसे युद्ध में शत्रु को, कई कर्म जो धर्म अधर्म समझे जाते हैं, उन में न किसी को हानि पहुंचती है, न लाभ, जैसे शराब पीने, और जप करने में। इसलिए हानि लाभ भी धर्माधर्म के निर्णायक नहीं हो सकते।

(चौथा पूर्वपक्ष) मनुष्य जैसे कला कौशल आदि के ज्ञान में वृद्धि करता आया है, कोई कला किसी ने निकाली, कोई किसी ने, और आगे उस में उन्नति होते २ हर एक कला पूर्ण रूप में पहुंची; इसी प्रकार धर्माधर्म के ज्ञान में भी मनुष्य वृद्धि करता आया है, कोई धर्म किसी ने जाना, कोई किसी ने

और आगे उस में उन्नति होते २ हर एक धर्म अपने पूर्ण रूप में पहुंचा है। इस प्रकार अब मनुष्य को अपने कर्तव्य पूर्णरूप में ज्ञात होगए हैं, इसी से हम जानते हैं, कि शराब पीना अधर्म है, और भक्ति करना धर्म है। दूसरे को हानि पहुंचाना अधर्म है, और लाभ पहुंचाना धर्म है, इत्यादि—

(उत्तर) धर्म यदि इस लोक से ही सम्बन्ध रखता होता, तब तो इस प्रकार उस का ज्ञान और उन्नति माने जासकते थे। पर धर्म तो परलोक से भी सम्बन्ध रखता है, और परलोक के सम्बन्ध में कुछ भी कहने का मनुष्य को अधिकार नहीं। क्योंकि परलोक में जाकर क्या कर्म क्या फल देता है, इस का जानना मानुष ज्ञान की परिधि से बाहर है। मनुष्य की दृष्टि इस लोक तक ही जाती है, परे नहीं। इसलिए पारलौकिक धर्म के विषय में हम उस पर ही पूर्ण श्रद्धा रख सकते हैं, जो परलोक को साक्षात् देखने वाले से बतलाया गया हो। इस लिए पारलौकिक धर्म के विषय में हम परमात्मा के बतलाए धर्म पर ही विश्वास रख सकते हैं, मनुष्य के बतलाए पर नहीं।

किञ्च धर्माधर्म का ज्ञान और उन्नति यदि इस प्रकार होती, तो अबतक धर्म में विरोध मिट गया होता, और अब सारी जातियों का एक धर्म होगया होता।

किञ्च—इस प्रकार धर्म का ज्ञान और उन्नति मानने में ईश्वर के प्रबन्ध में यह भारी त्रुटि आती है, कि आदिसृष्टि के मनुष्यों को अनेकों विषयों में धर्माधर्म का कुछ ज्ञान न हुआ, यद्यपि उन के अनुसार फलभोग उनके लिए भी वैसा ही था। जब ईश्वर ने उन को इष्टानिष्ट फल देना है, तो न्याय्य यही

है, कि इष्टानिष्ट कर्मका भी ज्ञान उन के देना ही चाहिये । सर्वथा हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि धर्माधर्म के विषय में ईश्वराज्ञाही परम प्रमाण हो सकती है । और कोई परम प्रमाण नहीं हो सकता ।

(पांचवां पूर्वपक्ष) निःसंदेह धर्माधर्म के विषयमें परमात्मा की आज्ञा ही प्रमाण होसकती है । परन्तु उस आज्ञा के जानने के लिए हमें कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं । परमात्मा हर एक मनुष्य के हृदय में स्थित होकर हर एक को सीधा मार्ग दिखलाते रहते हैं । मनुष्य जब कोई कर्म करने लगता है, तो उसका हृदय बतला देता है, कि यह कर्म शुभ है वा अशुभ है । यह परमात्मा की वाणी है, जो हर एक मनुष्य के हृदय में प्रकाशित होती रहती है । इसी को भिन्न २ भाषा भाषी जमीर, कानशंस, कोशन, हृदय कोशन वा आत्मसंतुष्टि के नाम से पुकारते हैं । वस्तुतः यह ईश्वरवाणी है, इस प्रकार ईश्वर हम में से हर एक के हृदय में बोलते हुए हर एक को सीधा मार्ग दिखलाते हैं, और जिस विषय में संशय उत्पन्न हो, उसमें यथार्थ निर्णय दिखलाते हैं। अतएव इसके अनुसार चलना ही ईश्वर को प्रिय है, और वही धर्म है । और इसके विरुद्ध चलना ईश्वर को अप्रिय है और वही अधर्म है ।

(उत्तर) कोशन (कानशन्स) मनुष्य को बहुधा धर्म का सच्चा मार्ग दिखलाती है, निःसन्देह वह पुरुष धर्मात्मा है, जो इसके अनुसार चलता है, और ऐसा ही चलना चाहिए किन्तु यह कोशन धर्माधर्म का निर्णय करने में पर्याप्त नहीं, और न ही यह ईश्वरवाणी है क्योंकि—

(१) जिस मनुष्य के हृदय पर धर्माधर्म के जैसे संस्कार पड़ते हैं, उसके अनुसार ही उसके हृदय से वाणी उठती है ।

सांप को सामने देखकर एक मुसल्मान का हृदय कहता है, कि इसे मारडालो, एक जैनी का हृदय कहता है, कि इसे बचाओ। मूर्ति को देखकर एक मूर्तिपूजक का हृदय कहता है, कि इसकी ओर पीठ करके भी न बैठो, महमूद का हृदय कहता है, कि इसको अपने हाथ से तोड़ो। एक जैनी का हृदय कहता है, कि कीड़ी को बचाओ, एक गाज़ी का हृदय कहता है, कि एक काफिर को मारकर पुण्य लाभ करो। यदि यह परमात्मा की वाणी होती, तो सब में एक स्वर से बोलती ॥

फिर यह एक मनुष्य की अवस्था में भी, जैसी २ उसकी अवस्था बदलती है, वैसी २ उसके हृदय से वाणी उठती है। आज एक मुसल्मान है, उसका हृदय उसको बलिदान के लिए प्रेरता है, कल वह आर्य बनजाता है, उसका हृदय उसको बलिदान से रोकता है। आज एक मूर्तिपूजा को धर्म समझता है, उसका हृदय उसे पूजा के लिए प्रेरता है। कल स्वामी दयानन्द के पास आकर उपदेश सुनता है, उसका हृदय मूर्तियां फैंकने के लिए प्रेरणा करता है, और वह फैंकदेता है। यदि यह ईश्वर-वाणी होती, तो सारी अवस्थाओं में एक ही रूप से उठती, और तभी धर्माधर्म के निर्णय में परम प्रमाण होसकती थी।

इस प्रकार कानशंस का निर्भर जब मनुष्य की वासनाओं पर है, तो वह मनुष्य की वासनाओं का परिणाम मानी जासकती है, न कि ईश्वर की वाणी। सो मनुष्य की वासनाएं जिन विषयों में एकरूप हैं; जैसे सच बोलना चोरी न करना इत्यादि, उन में सबका अन्तः करण एक रूप साक्षी देता है। और जिन विषयों में वासनाओं का भेद है, उनमें हरएक का

अन्तः करण अपनी २ वासना के अनुसार अलग २ साक्षी देता है। इस लिए कोंशन भी धर्म में परम प्रमाण नहीं होसकता।

किन्तु यह भी नहीं होसकता, कि परमात्मा हमें धर्माधर्म का ज्ञान दें ही नहीं, जब उन्होंने हमारे कर्मों का फल देना है, तो यह आवश्यक है, कि वह हमें भले बुरे कर्मों की पहचान दें। ईश्वर हमारे माता पिता हैं, और लोक में हम देखते हैं, कि माता पिता अपनी सन्तान को जहां साधन सामग्री देते हैं, वहां उसके वर्तने की शिक्षा भी देते हैं, तो फिर यह बात कब विश्वसनीय होसकती है, कि परमेश्वर ने मनुष्य को उत्पन्न कर डांवां डोल अवस्था में छोड़ दिया हो किञ्च-जब लोक में सीधामार्ग देखने के लिए उसने हमें नेत्र सूर्य और बुद्धि दी है, तो परलोक के लिए वह हमें डावांडोल कैसे रहने देता, तो फिर किस प्रकार वह धर्माधर्म का ज्ञान अपनी मानुषी प्रजातक पहुंचाता है, इसका उत्तर सभी ईश्वरवादी यह देते हैं. कि यद्यपि हर एक मनुष्य तो धर्माधर्म का ज्ञान सीधा परमेश्वर से नहीं पाता, किन्तु स्वयं परमात्मा मनुष्यों में से ही कइयों को साक्षात् धर्माधर्म का ज्ञान देते हैं, वह आगे लोगों में उस का प्रचार करते हैं। यह ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान कहलाता है, यही धर्माधर्म के विषय में परम प्रमाण है। जिन पर यह ज्ञान प्रकाशित होता है, उनको ऋषि वा रसूल वा पैगम्बर कहते हैं, और जिस पुस्तक में वह ज्ञान सुरक्षित किया जाता है, उसको ईश्वरीय पुस्तक वा इलाहामी पुस्तक कहते हैं। आर्य पारसी यहूदी ईसाई मुसल्मान सब का यही सिद्धान्त है।

—:०:—

ईश्वरीय ज्ञान किस पुस्तक में है—

यद्यपि ईश्वर से श्रुति वा इलहाम पाने के विषय में सब सहमत हैं, तथापि वह ईश्वरीय पुस्तक कौनसी है, इस विषय में सब का मतभेद है। आर्य वेद को, पारसी जिन्द को, यहूदी तौरेत को, ईसाई इञ्जील को और मुसल्मान कुरान को ईश्वरीय पुस्तक मानते हैं। यह जो मत मतान्तरों का विवाद है, इस को मिटाने के लिए हमें निष्पक्ष हो कर विचार करना चाहिये, क्योंकि इसी के यथार्थ निर्णय पर हम धर्माधर्म का यथार्थ निर्णय कर सकते हैं॥

ईश्वरीय पुस्तक की पहचान।

१.—इन में से ईश्वरीय पुस्तक कौन है, इस की यह सरल पहचान है, कि जिस में ईश्वर का वर्णन यथार्थ और पूर्ण है वह ईश्वरीयपुस्तक है, जिस में अयथार्थ और अपूर्ण है, वह ईश्वरीय पुस्तक नहीं हो सकती। ज्ञान तो ईश्वर से मिले, और वर्णन उस में ईश्वर का अपना ही अयथार्थ वा अधूरा हो यह संभव ही नहीं। सो इस लक्षण से ईश्वरीय ज्ञान का पता पाने के लिए जब हम वेद भगवान् होली बाइबल और कुरान शरीफ तीनों का मिलान करके देखते हैं, तो ईश्वर के गुण कर्म और स्वभाव के वर्णन में वेद ही पूरा उतरता है, उस में ईश्वर को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी आत्मा माना है, और यही उसका यथार्थ स्वरूप है। पर होली बाइबल में सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी आत्मा नहीं, किन्तु एक देहधारी चेतन माना है, और कुरानशरीफ में भी अल्लाह को एक देहधारी ही बतलाया है। ईश्वर की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिता भी जैसी शुद्धरूप

में वेद के अन्दर पाई जाती है, बाइबल और कुरान में ऐसी पूर्ण नहीं, इन के उदाहरण पूर्व दिखला दिये हैं, देखो पूर्व " ईश्वर के गुण कर्म और स्वभाव का विचार " ॥

और हम ईश्वर को अपने अन्तरात्मा में देख सकते हैं, इस का वर्णन तो है ही वेद में, * बाइबल और कुरान में नहीं है। सो ईश्वर के विषय में यथार्थ और पूर्ण ज्ञान वेद देता है, बाइबल और कुरान उतनी दूर तक नहीं पहुंचते, इस लिए वेद ही ईश्वरीय सिद्ध होता है।

(२) दूसरी सीधी पहचान यह है, कि यह सृष्टि ईश्वर की रचना है, अतएव ईश्वर की ओर से जो ज्ञान आएगा, उसमें सृष्टि नियमों के विरुद्ध कोई बात नहीं होगी, बल्कि यह अधिक संभव है, कि कहीं न कहीं सृष्टिविद्या के ऐसे मर्म बतलाए हों, जो असाधारण बुद्धि से गम्य न हों। इस पहचान के लिए विद्या द्वारा निश्चित की हुई बातों से तीनों धर्मपुस्तकों की बातों का मिलान करना चाहिये। यह बात अब निश्चित हो चुकी है, कि सूक्ष्म मात्राओं के स्थूलाकार होकर पृथिवी के रूप में आनेतक ही लाखों वर्ष लगे हैं, और फिर बहुत बड़ा काल पीछे पृथिवी इस योग्य हुई, कि उस पर वनस्पति उगसकें। पर बाइबल हमें बतलाती है, कि ईश्वरने एक दिन में आकाश और पृथिवी रची, दूसरे दिन नीचे और ऊपर के जल में विभाग किया, तीसरे दिन भूमि पर का सारा पानी एक जगह इकट्ठा करके सूखी भूमि निकाली और इकट्ठे हुए जल का नाम समुद्र और

---

* वैदिक कर्तव्यों का वर्णन करते हुए यह विषय विस्तार से लिखेंगे।

सूखी भूमि का नाम पृथिवी रक्खा। और उसी दिन पृथिवी पर घास और पेड़ उगा दिये। चौथे दिन आकाश में सूर्य चन्द्र और तारे उत्पन्न किये, ताकि पृथिवी पर प्रकाश देवें *। पांचवें दिन समुद्र में जल जन्तु, और आकाश में उड़ने वाले पक्षी रचे। छटे दिन ग्राम्य पशु, वन्य पशु; रेंगने हारे जन्तु, और मनुष्य रचे। इस प्रकार सृष्टि का सारा काम छः दिन में निपटा कर सातवें दिन परमेश्वर ने विश्राम किया। (देखो वाइवल, उत्पत्ति पुस्तक, अध्याय १, २) यह है वाइवल में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन। अब यह बात सृष्टिविद्या के जानने वाले कभी नहीं मान सकते। सीधी बात यह है, कि यहूदियों में छः दिन काम काज के लिए,और सातवां दिन ईश्वर भक्ति और विश्राम के लिए माना जाता था, और दिन भी सात ही माने जाते थे। उस की पुष्टि में यह कल्पना उत्पन्न हुई, कि परमेश्वर ने छः दिन में सृष्टि रचकर सातवें दिन विश्राम किया था। और किस २ दिन क्या २ रचा, यह जैसी वे ध्यान में लासके, वैसी बांट कर दी।

सृष्टि की उत्पत्ति में कुरान भी वाइवल की ही पुष्टि करता है, और सूरत अलबकर में पृथिवी पर की सृष्टि के अनन्तर ही ऊपर के लोकों की उत्पत्ति बतलाता है, जैसाकि–"वही है,जिस ने तुम्हारे लिए पृथिवी की समस्त वस्तुएं उत्पन्न कीं, फिर आस्मान की ओर ध्यान दिया, तो सात आस्मान समतल बना दिये"।

पर वेद में सृष्टि उत्पत्ति का जो वर्णन है, वह सर्वथा सृष्टि विद्या के साथ मिलता है। देखो ऋग्वेद के विश्वकर्म सूक्त

---

* कैसी भोली बात है, कि पृथिवी तो पहले बनी सूर्य और तारे पीछे बने॥

(१० । ८१, ८२), पुरुष सूक्त (१० । ९०) हिरण्यगर्भ सूक्त (१० । १२१) भाव वृत्त सूक्त (१० । १२९) और अघमर्षण सूक्त (१० । १९० *) इन में अव्यक्त से सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल आदि का सारा सृष्टिक्रम से मिलता हुआ वर्णन है ।

(३) ईश्वरीय पुस्तक में यदि कुछ स्पष्ट ऐसी बातें मिल सकें, जिनकी सत्यता की परीक्षा इस लोक में हो सके, पर उस समय के लोगों को बिना दिव्य दृष्टि के उनका पता लगाना असम्भव हो, तब हमें उसके ईश्वरीय होने में एक प्रत्यक्ष चिन्ह मिल जाता है । वेद में यह चिन्ह बड़ा स्पष्ट पाया जाता है । जैसे वृष्टि के वर्णन में है—

उदीरयथा मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः । (ऋग्वेद ५ । ५५ । ५)

हे मरुतो समुद्र से तुम पानी को ऊंचे चढ़ा ले जाओ, और पानी वाले बनकर वर्षा बरसाओ ।

मानसून समुद्र से उत्पन्न होते हैं, और वे यहां आकर मेंह बरसाते हैं, इस विद्या का वेद के समय में ज्ञान दिव्यज्ञान के बिना असम्भव था । फिर कहा है—

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः । भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्ति चाग्नयः
(ऋ० १ । १६४ । ५१)

---

* पहले चार सूक्तों के अर्थ हम ने वेदोपदेश प्रथम भाग में, और पांचवें का भाष्य पञ्चमहायज्ञ पद्धति में विस्तार से लिख दिया है, इसलिए यहां लेख नहीं बढ़ाया है ।

यह जल एकबराबर बना रहता है, जो अपने दिनों से ऊपर जाता है और नीचे आता है। भूमि को मेघ तृप्त करते हैं, और अग्नियें आकाश को तृप्त करती हैं। भूमि पर जो पानी है वह प्रतिवर्ष की वर्षाओं से बहुत बढ़ जाए, यदि नीचे से भाप बनकर ऊपर न चढ़ता रहे, और नीचे से ऊपर चढ़ता२ बहुत ही घट जाए, यदि ऊपर से नीचे न आता रहे। पर जिस लिए गर्मियों में जो पानी ऊपर चढ़ता है, बरसात में वही नीचे उतरता है, इसलिए पानी एक बराबर बना रहता है, और इस ढंग से भूमि और आकाश दोनों तृप्त होते रहते हैं।

पानी बराबर बना रहने का कारण बतलाते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है, कि जो कुछ इस जगत् में है, उसमें न कुछ घटता है, न बढ़ता है। वह यहां से वहां चला जाता है, पर किसी का स्वरूपनाश नहीं होता, और न ही नया बनता है। पदार्थ विद्या के इस रहस्य का जानना भी वैदिक समय के लोगों से विना दिव्यज्ञान के असंभावित है।

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः (यजु १८।४०)

सूर्य की किरणों का चन्द्रमा धारने वाला है।

इस मन्त्र में चन्द्रमा को सूर्य के प्रकाश से प्रकाशमान बतलाया है।

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः (यजु० २३।६१)

मैं तुझे पृथिवी का परला सिरा पूछता हूं॥

इसके उत्तर में जो यह कहा है।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः (२३।६२)

यह वेदि पृथिवी का परला सिरा है॥ यह पृथिवी के गोल

होने में प्रमाण है, क्योंकि जब पृथिवी गोल हो; तभी हम जहां बैठे हों, उसी को परला सिरा कह सकते हैं, अन्यथा नहीं । इत्यादि विद्यासम्बन्धी बातें जो वेद में पाई जाती हैं, ये उसके ईश्वरीय होने का चिन्ह हैं, जब कि दूसरी ओर वेद से बहुत पीछे भी प्रवृत्त हुई बाइबल और कुरान में विद्यासम्बन्धी ऐसी बातें नहीं हैं ।

(४) श्रुति (इलहाम) की आवश्यकता यह है, कि जो धार्मिक सचाइयां अभी मनुष्यों पर प्रकाशित नहीं हुई हैं, उनको परमेश्वर अपने भेजे हुए किसी ऋषि वा नबी द्वारा मनुष्योंपर प्रकाशित करता है, ताकि लोग उस धर्म से अनभिज्ञ न रहें । सो इस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर तीनों धर्मपुस्तकों का निर्णय करें, कि उनमें से कौनसा पुस्तक इस प्रयोजनको पूरा करता है।

कुरानशरीफ की धार्मिक सचाईयों का मूल ।

कुरानशरीफ में जो धर्म प्रतिपादन किये हैं, यदि वे कुरानशरीफ के उतरने से पूर्व ही जगत् में प्रसिद्ध न होते, तो कुरानशरीफ इस प्रयोजन को सिद्ध करता । पर इतिहास से पता लगता है कि वे सारे धर्म पहले प्रकट हो चुके थे । अरब के इतिहास से पता लगता है, कि हज़रत मुहम्मद साहेब के जन्म से पहले अरब में साइबी धर्म, इब्राहीमी धर्म, यहूदी धर्म और ईसाई धर्म का प्रचार था । अरब के विद्वान् इन के सिद्धान्तों और मन्तव्यों से जानकार थे । पैगम्बर स्वयं भी इन से जानकार थे । कुरान शरीफ में भी इन का जिकर आता है । पारसी धर्म भी लोगों को अज्ञात न था । ऐसी अवस्था में कुरान शरीफ के वे मन्तव्य वा विधान जो कुरान शरीफ में इन धर्मों के सदृश हैं वे कुरानशरीफ के नए नहीं, पुराने ही माने

जा सकते हैं। कुरान में ऐसे मन्तव्य और विधान कौनसे हैं, इस विषय में हम **सरसय्यद अहमदखां** का लेख सब से उत्तम प्रमाण मानते हैं, क्योंकि वे एक पक्के मुसलमान कुरान के रक्षक थे। सय्यद महोदय अलखबात अल अहमदिया के पृष्ठ १४९ पर लिखते हैं—

"इसलामी धर्म में दूसरे किसी को पूजनीय मानने का, तथा मूर्ति पूजा का, निषेध यहूदियों के धर्म के बिल्कुल समान है। तौरेत में लिखा है कि "मेरे सिवाय दूसरों को परमेश्वर करके न मानना., (निर्गमन २० ३) " और जो कुछ मैंने तुम से कहा, उस में सावधान रहना, और पराये देवताओं के नाम की चर्चा न करना, बल्कि उन के नाम तुम्हारे मुंह से भी निकलने न पावें (निर्गमन २३ । १३) कोई मूर्ति न खोदलेना और जो कुछ आकाश में वा पृथिवी पर वा पृथिवी के जल में है, उस का स्वरूप न बनाना, ऐसीवस्तुओं को दण्डवत न करना, न उनकी उपासना करना, क्योंकि मैं तुम्हारा परमेश्वर यहोवा जल उठने वाला ईश्वर हूं" (निर्गमन २०।४,५) "तुम मूर्तों की ओर जो निकम्मी ही हैं, न फिरना, और देवताओं की प्रतिमाएं ढाल के न बना लेना, मैं तो तुम्हारा परमेश्वर यहोवा हूं" (लैव्यव्यवस्था १९ । ४) तुम मूर्तें जो निकम्मी ही हैं, न बना लेना, और न कोई खुदी हुई मूर्ति अथवा लाठ खड़ी कर लेना; और न अपने देश में दण्डवत करने के लिए नक्काशीदार पत्थर स्थापन करना, क्योंकि मैं तुम्हारा परमेश्वर यहोवा हूं" (लैव्यव्यवस्था २६।१) " देखो तुम उन के देवताओं को दण्डवत न करना, और न उन की उपासना करना, न उन की मूरत बनाना, बल्कि उन मूर्तों को पूरी तरह सत्यानाश

कर डालना, और उन लोगों की लाठों को तोड़ के टुकड़े टुकड़े कर देना" (निर्गमन २३। २४)॥

'सब से उत्तम और उच्च आज्ञाएं यहूदी धर्म में ये हैं, जो नीचे लिखी जाती हैं, इसलाम में यही आज्ञाएं हूवहू विद्यमान हैं "अपने पिता और अपनी माता का आदर करना, मनुष्यहत्या न करना, व्यभिचार न करना, चोरी न करना, अपने भाई बन्धु के विरुद्ध झूटी साक्षी न देना, अपने भाई बन्धु के घर का लालच न करना (निर्गमन २०।१२-१७) ॥

'नमाज़ के वेले जो इसलाम में नियत हैं, जिन की संख्या सात वा पांच वा तीन है, ये यहूदी और साइबी धर्मों के नमाज़ वेलों के बहुत समान हैं"।

'इसलाम में नमाज़ पढने की जो रीति ढंग है, वह साइबी और यहूदी धर्म के रीति ढंग के बहुत सदृश है, नमाज़ हृदय की शुद्धि के लिए थी, और यही असली मनशा नमाज़ के नियत करने का था। और शरीर तथा वस्त्रों की शुद्धि, जिसके लिए इसलामी धर्म में आज्ञा है, साइबियों और यहूदियों की इस प्रकार की रीतियों से बहुत कुछ समानता रखती है। तौरेत में है "इतना कह मूसा ने हारून और उसके पुत्रों को जल से नहलाया"।

"धार्मिक विधानों में एक यही बात इसलाम में नई है, जो किसी अन्य धर्म में नहीं पाई जाती, अर्थात् नमाज़ में बुलाने के लिए यहूदियों के नरसिंगा बजाने और ईसाइयों के घण्टा बजाने के बदले बांग नियत की गई है"।

"समस्त बलिदान जो इसलाम धर्म में विहित हैं, यहूदियों के बलिदानों के सदृश हैं। मानों ये बलिदान इसलामाचार्य्य ने यहूदियों के बहुत से बलिदानों में से चुन लिये हैं।

इस्लामी मत में जो रोज़े नियत हैं, वे भी यहूदी मत और और साइबी मत के रोज़ों के सदृश हैं, बल्कि यहूदीधर्म की अपेक्षा साइबी धर्म के रोज़ों से अधिक सादृश्य रखते हैं।

"सप्ताह के एक नियत दिन में नमाज़ और दूसरे धार्मिक कर्मों के नियत समय पर लोगों को संसारी कामों से रोकना, यहूदियों की इसी प्रकार की रीति से समानता रखता है, किन्तु अरब वासी हज़रत इब्राहीम के समय से जुम्मा को पवित्र दिन मानते हैं"।

'खतना भी वही है, जिसका यहूदियों और इब्राहीम के अनुयायिओं में प्रचार था। निकाह और तलाक की भी लग भग वैसी ही रीति है"।

"स्त्री विशेष से निकाह करने के विधि निषेध में जो आज्ञाएं इस्लाम धर्म में हैं, वे बहुतसी बातों में यहूदियों के धर्म की आज्ञाओं के सदृश हैं"।

"सूअर का मांस खाने का निषेध इस्लाम में वैसाही है, जैसाकि इस्राईलियों के मत में था, तौरेत में लिखा है "और सूअर जो अधचिरे क्या बल्कि बिल्कुल चिरे खुर वाला भी होता तो है, पर पागुर नहीं करता, इसलिए वह भी तुम्हारे लिए हराम (अभक्ष्य) है" (लैव्य व्यवस्था ११।७)।

"पशु पक्षियों के भक्ष्य होने और मरे हुए जीव का मांस न खाने के विषय में जो आज्ञाएं इस्लामी धर्म में हैं, वे मूसवी विधानों के पूर्ण सदृश हैं"।

सुरापान और अन्य मद्यों का निषेध भी मूसवी विधानों के समान है, तौरेत में है, कि "जब २ तू वा तेरे पुत्र मिलाप वाले तम्बू में आवें, तब २ तुम में से कोई न तो दाख मधु पिये

होवे, न और किसी प्रकार का मद्य, नहीं तो मरजाओगे (लैव्य-व्यवस्था १० । ९)

' हां इस्लाम ने इस हानि की जो सुरापान से होती है, पूरी रोक कर दी है, अर्थात् सुरापान का सर्वथा निषेध कर दिया है, और किसी समय भी पीने की अनुज्ञा नहीं दी ॥

' इस्लाम में भिन्न २ पापों वा अपराधों के विषय में जो दण्ड हैं, वे मूसवी विधानों से पूरा सादृश्य रखते हैं " ।

यह लेख, जो एक पक्के मुसल्मान का है, इससे स्पष्ट हो जाता है, कि इस्लामी धर्म में कोई भी बात ऐसी नहीं, जो हज़रत मुहम्मद से पहले लोगों पर अविदित थी ।

शैतान फरिश्ते बहिश्त और दोज़ख के मन्तव्य भी यहूदियों से मिलते हैं । कअबा की ओर मुंह करके नमाज पढने का नियम यहूदिओं के समान है, जो सदा यरूशलम की ओर मुंह करके नमाज़ पढते हैं, हज्जकी रीति पहले ही मूर्तिपूजक अरबों में प्रचलित थी, उस को पैगम्बर साहेब ने रख लिया है, ' लाइला इल्ल अल्ला ' (नहीं ईश्वर, पर ईश्वर) कुरानका यह कलमा पारसिओं के इस वचन का निरा भाषान्तर है 'नेस्त ऐज़द मगर यज़दान' । सो यदि श्रुति का उद्देश्य यह है, कि अविदित सचाइयां मनुष्य पर प्रकाशित हों, तो इस उद्देश्य को कुरानशरीफ पूरा नहीं करता ।

इसाई धर्म की सचाइयों का मूल ।

ईसाइयों के धर्म पुस्तक बाइबल के दो भाग हैं, पुराना धर्मनियम और नया धर्मनियम । पुराने धर्म नियम को यहूदी अपना धर्म पुस्तक मानते हैं, हज़रत मसीह ने उसका प्रमाण किया है, अतएव ईसाई भी उसेको धर्म पुस्तक मानते हैं । हज़रत

मसीह के उपदेश सदाचार की शिक्षा हैं। जब इन शिक्षाओं का बौद्धधर्म से मिलान किया जाता है, तो निःसंदेह प्रतीत होता है, कि इन पर बौद्ध धर्म का रंग चढ़ा हुआ है। जैसे—

बुद्धदेव-(५) द्वेष द्वेष से नहीं जीता जाता, द्वेष प्रेम से जीता जाता है ऐसी ही उस की प्रकृति है।

(१९७) हमें प्रसन्न रहना चाहिये, जो हम से द्वेष करते हैं, उन से द्वेष नहीं करना चाहिये, जो लोग हम से द्वेष करते हैं, हमें उनके मध्य में द्वेषरहित हो कर रहना चाहिये॥

(२२३) क्रोध को प्रेम से जीतना चाहिये; बुराई को भलाई से, लालच को उदारता से और झूठ को सत्य से जीतना चाहिये (धम्म पद)

हज़रतमसीह-परन्तु मैं तुम से यह कहता हूं, कि अपने वैरियों को प्यार करो, जो तुम्हें शाप देवें उन को असीस दो, जो तुम से वैर करें, उन से भलाई करो, और जो तुम्हारा अपमान करें और तुम्हें सतावें, उन के लिए प्रार्थना करो"।

बुद्धदेव-प्राणधारियों का वध करना; नर हिंसा, काटना, बांधना, चोरी करनी, झूठ बोलना, छल, कपट, व्यभिचार, निन्दा, निर्दयता, मद्य सेवन, धोखा देना, घमंड, दुष्ट विचार और दुष्ट वचन ये मनुष्य को अपवित्र करते हैं (सुत्तनिपात)

हज़रतमसीह-क्योंकि मन से नाना भांति की कुचिन्ता नर हिंसा, व्यभिचार, चोरी, झूठी साक्षी, और ईश्वर की निन्दा निकलती हैं. ये ही हैं, जो मनुष्य को अपवित्र करती हैं, परन्तु विन धोये हाथों से भोजन करना मनुष्य को अपवित्र नहीं करता (मत्ती १५ । १९-२०)

महात्माबुद्ध-दूसरों का दोप देखना सहज है, पर अपना दोप देखना कठिन है (धम्म पद)

हज़रतमसीह-'और तू जो अपने भाई की आंख के तिनके को देखता है, अपनी आंख के शहतीर पर क्यों ध्यान नहीं देता (.मत्ती ७ । ३)।

इसीप्रकार हज़रतमसीह की सदाचार की सारी शिक्षा दूसरे शब्दों में बुद्धदेव की ही शिक्षा है। शिक्षा का इतना बड़ा मेल अचानक नहीं हुआ, किन्तु आवश्य एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ा है, और वह प्रभाव बुद्धदेव की शिक्षा का ही हज़रतमसीह की शिक्षा पर पड़ा है। क्योंकि बुद्धदेव हज़रतमसीह से बहुत पहले हुए, और महाराज अशोक ने मिसर और सीरिया में बौद्ध उपदेशक भेजे, वहां उन्होंने बड़े प्रबल बौद्ध समाज स्थापित किये, और आस पास के देशों में सर्वत्र प्रचार किया, पैलस्टाईन के ऐसेनीज़ बौद्ध सम्प्रदाय के थे। और जैसाकि रोमनिवासी प्लिनी इन के विषय में लिखता है, ये बड़े संयमी थे, अविवाहित रह कर जीवन व्यतीत करते थे। यहूदियों में बौद्धधर्म का प्रचार करते थे। इस प्रकार बौद्धधर्म की शिक्षाएं तो हजरतमसीह के जन्म से पूर्व वहां पहुंची हुई थीं। और वे शिक्षाएं उन के उपदेशों में विद्यमान हैं, बल्कि यहां तक निश्चय किया गया है कि यूहन्ना जिसने हज़रतमसीह को बपतिस्मा दिया, वह ऐसेनीज़था। जल से बपतिस्मा देना जो अब ईसाइयों में प्रवेश-संस्कार की रीति मानी जाती है। यह रीति यहूदियों में प्रचलित नहीं थी। प्रवेश संस्कार की यह रीति न हज़रतमूसा की न हज़रतईसा की चलाई हुई है। यह बौद्ध धर्म की रीति है, बौद्ध धर्म में प्रवेश संस्कार जल से करते थे, जिस का नाम

अभिषेक था। यही अभिषेक बपतिस्मा के नाम से ऐसनीज़ में प्रचलित था। यही बपतिस्मा बपतिस्मा देने वाले यूहन्ना ने हज़रत-मसीह को दिया, यही अब प्रवेश संस्कार माना जाता है। ईसाई धर्म की शिक्षाएं हम नई नहीं कह सकते, वे बौद्ध धर्म की ही शिक्षाएं हैं, और सदाचार की ये शिक्षाएं बुद्धदेव से भी पूर्व ही आर्य जाति में प्रचलित थीं।

यह तो हुआ नये धर्म्म नियम का मूल। अब पुराने धर्म नियम की जो शिक्षाएं हैं, वे अपूर्व नहीं है। वे उससे पूर्व पारसी धर्म में पाई जाती हैं। और यह बात इतिहास से सिद्ध है, कि यहूदियों का सम्बन्ध पारसियों से रहा है। पारसियों की धर्म पुस्तक ज़िन्द में ईश्वर का नाम 'अह्मि, यदह्मि'= अस्मि, यदस्मि' मैं हूं जो हूं' बतलाया है। हज़रत मूसा ने बाइबल में परमेश्वर का नाम 'मैं जो हूं' वा 'मैं हूं' बतलाया है (देखो निर्गमन ३।१४) पारसी अग्नि को परमेश्वर का द्योतक मानते हैं, बाइबल में यहोवा का अग्नि के रूप में प्रकट होना बतलाया है "और यहोवा जो आग में होकर सीने पर्वत पर उतरा था" (निर्गमन १९।१८) 'उस समय तो इस्राईल वंशियों की दृष्टि में यहोवा का तेज पर्वत की चोटी पर प्रचण्ड आग सा देखपड़ता था" (निर्गमन २४।१७)। पारसी अग्नि में होम करते थे, यहूदी भी वेदि बनाते और उस में पशु बलि देतेथे (देखो उत्पत्ति ८।२० और निर्गमन २०।२४) बहिश्त और दोज़ख, प्रलय का दिन, मुरदों का दुबारा जी उठना, मनुष्यों के कर्मों का तकड़ी पर तोला जाना इत्यादि सिद्धान्त भी यहूदियों ने पारसियों से लिए हैं। इस लिए पुराने धर्म नियम के उपदेश भी नये नहीं, पुराने हैं। अतएव

पुराना धर्मनियम भी ईश्वरीय पुस्तक के इस लक्षण को पूरा नहीं करता है ॥

पारसी धर्म का मूल ।

अब पारसी तो हैं ही आर्य, उनका धर्म आर्यधर्म है। पारसी हवन यज्ञ करते हैं, यज्ञोपवीत पहनते हैं, उनमें चारों वर्ण माने जाते हैं। हां वेद का प्रचार न रहने से कुछबातें उनमें अवैदिक भी सम्मिलित हुई हैं, किन्तु आर्यावर्तीय आर्य-सम्प्रदायों की तरह उनका भी मूल वैदिक धर्म है, इस में संदेह नहीं ॥

सो इस प्रकार हरएक धर्म शिक्षा का मूल खोजते २ जब हम वेद पर पहुंचते हैं, तो हम क्या देखते हैं, कि वेद के सारे ही धर्मोपदेश अपूर्व हैं। वेद से पूर्व न किसी पुस्तक का न किसी शिक्षा का पता लगता है। वेद में जो कुछ कहा है, वह उसका अपना है, उसकी सारी शिक्षाएं नई हैं। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध होजाता है, कि वेद ईश्वरीय पुस्तक है, उसमें जो शिक्षाएं हैं, उनका स्रोत साक्षात् ईश्वर होना चाहिये, क्योंकि और कोई स्रोत है नहीं, वेद ठीक उस समय प्रकाशित हुआ है, जब ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता थी। अतएव ईश्वरीय है।

(५) ईश्वरीय धर्म की पांचवीं पहचान यह है, कि मानुषी सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य पर प्रकाशित हो। क्योंकि ईश्वरीय शिक्षा की उसी समय सब से बढ़कर आवश्यकता है। दूसरा जब आदि सृष्टि के मनुष्य भी धर्माधर्म के अधिकारी हैं, और ईश्वरने उनको भी उनके किये कर्मों का फलदेना है, तो यह आवश्यक है, कि उनको धर्माधर्म का ज्ञान भी दे। यह अन्याय्य है, कि उनको विधि निषेध न बतलाया जाए, पर विधि निषेध

के उलंघन पर घर दबाया जाए। इस लिए यही न्याय्य है, कि ईश्वरीय धर्म का मानुषी सृष्टि के आरम्भ में ही मनुष्य पर प्रकाश हो। सो आओ इस चिन्ह से ईश्वरीय धर्म को पहचानें।

यह निर्विवाद है, कि कुरानशरीफ का प्रकाश हज़रत मुहम्मद साहेब पर हुआ। हज़रत मुहम्मदसाहेब का सन् हिजरी (जब वे मक्के से मदीने गए) अब १३३६ है । सो कुरान शरीफ को प्रकाशित हुए केवल १३३६ वर्ष हुए हैं । यद्यपि यह गणना भी पूरी नहीं। क्योंकि मुसल्मानों का वर्ष घट दिनों का होता है। हमारे ३५ वर्ष मुसल्मानों के ३६ वर्ष बनजाते हैं। इसलिए मुसल्मानों के त्योहार (रोज़े ईद मुहर्रम शबकदर आदि) पीछे हटते हटते ३५वें वर्ष फिर उन्हीं दिनों में आते हैं। और फिर पीछे हटने लगते हैं। क्योंकि मुसलमान चन्द्रमान से कालमान करते हैं, और अधिमास नहीं लगाते। अस्तु १३३६ वर्ष का समय भी सृष्टि उत्पत्ति के सामने अत्यल्प है । सो ईश्वरीय धर्म का यह चिन्ह कुरानशरीफ पर नहीं घटसकता।

इञ्जील का प्रकाश हजरतमसीह के समय से है, हजरत-मसीह का सम्वत् इस समय १९१७ है। यह समय भी सृष्टि उत्पत्ति के सामने अत्यल्प है। हज़रत मूसा जो यहूदियों के पैगम्बर हैं, उनको हुए ५००० से अधिक वर्ष नहीं हुए, और हजरत जरदुश्त जो पारसियों के पैगम्बर हैं, उनको भी ५००० से अधिक वर्ष नहीं हुए। यह समय भी बहुत थोड़ा है, क्योंकि अब भूगर्भ विद्या से यह निश्चय होगया है, कि भूमि पर मनुष्य को उत्पन्न हुए करोड़ों वर्ष बीत गए हैं। और दूसरा यह भी, कि हजरत मूसा और हजरत जरदुश्त से पहले मनुष्यों की वंशापरम्परा कई पीढियों से चली आरही थी, यह तो उनके

अपने बचनों से भी पाया जाता है, इसलिए यह सिद्ध है, कि आदि सृष्टि के समय इनमें से कोई भी धर्म प्रकाशित नहीं हुआ, अतएव ये सब पीछे के धर्म हैं ।

हां एक वैदिक धर्म है, जिसका प्रकाश मानुषी सृष्टि के साथ माना जाता है । जब हम इस निश्चय पर पहुंच गए, कि परमात्मा मनुष्य को धर्म की शिक्षा अवश्यमेव सृष्टि के आदि में देदेते हैं, और इधर हम कुरानशरीफ और होली बाइबल के विषय में निःसंदेह जानते हैं, कि ये आदिसृष्टि में प्रकाशित नहीं हुए, और वेद के विषय में हम वैदिक लोगों का परम्परा से यह पक्का निश्चय पाते हैं, कि वैदिकधर्म आदि सृष्टि में ऋषियों पर प्रकाशित हुआ, और हम यह भी देख चुके हैं, कि ईश्वरीय धर्म के अन्य लक्षण भी वैदिकधर्म में बड़ी उत्तमता से घटित होते हैं, तब हम निःसंदेह यह अनुमान कर सकते हैं, कि वेद ही ईश्वरीय पुस्तक है । इस विषय में ऐतिहासिक प्रमाण हम आगे देंगे ।

(६) छटी पहचान यह है, कि परमात्मा का भेजा हुआ ज्ञान सर्वांग परिपूर्ण होना चाहिए, अर्थात् उसमें मनुष्य की लौकिक और धार्मिक सर्वांग परिपूर्ण उन्नति का यथार्थ ज्ञान भरा हो । यह लक्षण भी केवल वेद में ही पाया जाता है । दूसरे धर्मपुस्तक मनुष्य की धार्मिक उन्नति का जो वर्णन करते हैं, वह ऐसा पूर्ण नहीं, कि उससे मनुष्यकी सारी धार्मिक आवश्यकताएं पूरी होसकें, और लौकिक उन्नति के साधनों का तो उनमें बहुत ही थोडा वर्णन है और कहीं २ लौकिक उन्नति को नीचा भी दिखाया गया है । पर वेद जहां मनुष्य की धार्मिक सारी आवश्यकताओं को पूरा करता है, वहां लौकिक

उन्नति में भी पूरा उत्साह भरता है, और उत्तमोत्तम साधन बतलाता है। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है, इसका विस्तार **आर्य्य जीवन** में किया गया है। वहीं से देखना चाहिये।

धर्म पुस्तकों की भीतरी साक्षियां—जब हम ईश्वरीय पुस्तक के संभावित चिन्हों द्वारा इस निश्चय पर पहुंच गए, कि वेद ही एक ईश्वरीय पुस्तक है, तो अब हमें धर्म पुस्तकों की भीतरी साक्षियां देखनी चाहियें. कि वे हमारे इस निश्चय की पुष्टि करतीं हैं, वा इसके प्रतिकूल हैं।

इञ्जील की साक्षी—"और जैसे उसने अपने पवित्र नबियों के मुख से जो आदि से होते आए हैं कहा (लूक, अध्याय १ आयत ७०) इस आयत में यह स्पष्ट कहा है, कि ईश्वर के भेजे हुए पवित्र ऋषि आदि से होते चले आए हैं। सो इञ्जील यह स्पष्ट पता देती है, कि ईश्वर का संदेश पहुंचाने वाले ऋषि आदि सृष्टि में हुए हैं।

कुरान शरीफ की साक्षी—"(आदि में सब) लोग एक ही दीन (धर्म) रखते थे, फिर (आपस में लगे भेद करने, तो) परमात्मा ने पैगम्बर भेजे, जो ईमान वालों को (परमेश्वर) शुभ संदेश सुनाते, और (लोगों को परमेश्वर का) डर दिलाते (सूरत अलबक़र रकूअ २५) यह वचन कैसा स्पष्ट इस बात का साक्षी है कि आदि में सारी दुनिया का एक ही धर्म था और यदि उस आदि धर्म पर लोग स्थिर रहते, और उससे भेद न करते, तो परमात्मा को पैगम्बर भेजने की कोई आवश्यकता न थी। सो ईसाइयों की धर्मपुस्तक और मुसल्मानों की धर्म पुस्तक इन दोनों धर्म पुस्तकों से यह निश्चय पाया जाता है, कि परमात्मा ने आदि सृष्टि में अपने पैगम्बरों द्वारा जो धर्म

प्रकाशित कर दिया था, उसी धर्म का प्रकाश करने के लिए फिर २ नबी आते रहे हैं । अब आदि सृष्टि में कौन धर्म प्रकाशित किया था, इसका उत्तर वेद देता है ।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः । यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः (ऋग् १० । ७१ । १)

हे बृहस्पते ! नाम रखने की शक्ति वालों ने आदि में जो वाणी का उच्चारण किया, उस में वह ज्ञान है, जो सारे दोषों से शून्य है, और सब लोगों के लिए सब से बढ़कर उत्तम है वह ऋषियों के प्रेम मे प्रकाशित हुआ, जो कि पहले गुफा में रक्षित था (अर्थात् परदे में था)

इस मन्त्र में वेदों के प्रकाश का विषय वर्णन करते हुए, जो बातें बतलाई हैं, वे वेदों के ईश्वरीय होने में प्रमाण रूप हैं, जैसे कि—

(१) आदि में उचारा, अर्थात् वेद विद्या को ऋषियों ने सृष्टि के आदि में उचारा है । सो आदि सृष्टि में प्रकाशित होना वेद के ईश्वरीय होने का बड़ा प्रबल प्रमाण है, क्यों कि उस समय ही ईश्वरीयशिक्षा की सब से बढ़ कर आवश्यकता है, और उस समय उस अनादि गुरु के सिवाय और कोई गुरु भी नहीं, इस लिए उस समय ईश्वर से मिली शिक्षा के ईश्वरीय होने में संदेह भी नहीं हो सकता है ।

(२) वाणी का मूल-यह वेद के ईश्वरीय होने में दूसरा प्रबल प्रमाण है, विचार तो बड़े ऊंचे और पूर्ण, और प्रकटे उस समय, जब मनुष्य ने भाषा भी नहीं सीखी थी । उस के ईश्वरीय

होने में क्या संदेह हो सकता है, कि जिस के प्रकाशक न केवल पढ़े लिखे नहीं, किन्तु अभी वे भाषा भी नहीं जानते, उनको ज्ञान और उसके प्रकाशक शब्द दोनों ईश्वर से मिले हैं ।

इसकी पुष्टि दूसरे धर्म ग्रन्थों से भी होती है । कुरानशरीफ में लिखा है " और आदम को सब नाम बतादिये, फिर उन वस्तुओं को देवताओं के सामने उपस्थित करके कहा, कि यदि तुम सच्चे हो, तो हमको इनके नाम बताओ, बोले "तू पवित्र है, जो तूने हम को बतादिया है, उसके अतिरिक्त हम को कुछ मालूम नहीं, तूही जानने वाला पहचानने वाला है" आज्ञा दी कि " हे आदम तुम देवताओं को इनके नाम बता दो " (सूरत अलबकर रकूअ ४) यहां कुरान में है, कि आदि में ईश्वर ने आदम को सब नाम बता दिये, इधर वेद कहता है, कि आदि में हुए ऋषियों को सब नाम बताए, संस्कृत में आदिम कहते ही आदि में होने वाले को हैं, इस लिए आदम से अभिप्राय आदिम ऋषि लें, न कि कोई आदमनामी व्यक्ति, तो दोनों धर्म ग्रन्थों का कैसा पूरा मेल होजाता है । कुरान-मजीद को पढ़कर जो यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जो नाम परमेश्वर ने आदम को बतलाए, वे नाम क्या हैं और किस पुस्तक में हैं, इसका उत्तर पाने की इच्छा जो वहां बनी रहजाती है, यहां पूरी होजाती है, कि वे नाम वे ही हैं, जो आदिम ऋषियों को मिले, और वे वेद में सुरक्षित रक्खे हैं । भगवान मनु भी इसी को स्पष्ट करते हैं—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥
(मनु १।२१)

आदि में वेद के शब्दों द्वारा ही उसने सब के अलग २ कर्म अलग २ नाम और अलग २ मर्यादाएं बांधी ।

बाइबल में जो यह वर्णन है, कि पहले तो सारी पृथिवी पर एक ही भाषा और एकही बोली थी और सब लोग एकही सम्प्रदाय के थे, (देखो बाइबल उत्पत्ति अध्याय ११)यह भी स्पष्ट इसी आदि भाषा की ओर निर्देश करता है । इस प्रकार युक्ति प्रमाण से सिद्ध यह बात इतिहास प्रसिद्ध भी है ।

३—निर्दोष है—शब्द वही प्रमाण हो सकता है, जो सारे दोषों से शून्य हो । शब्द में दोष ये होते हैं (१) भ्रम=भूल, वक्ता को जब किसी वस्तु के जानने में भूल हुई हो, तो उस विषय में उसका वचन प्रमाण नहीं होगा (२) प्रमाद=असावधानता । जब समझने में असावधानता की हो, जो २ बात परख कर सम्मति देनी चाहिए, वे सारी बातें न परखी हों, तब उसके विषय में उसका वचन प्रमाण नहीं होगा (३) विप्रलिप्सा=धोखा देने की इच्छा, जो वचन किसी को भूल में डालने वा भूल में पड़ा रहने देने के लिए कहा गया है, वह प्रमाण नहीं होगा । ऋषियों पर जो ज्ञान और वचन प्रकाशित हुआ, वह इन सारे दोषों से शून्य है ।

४—सबसे बढ़कर उत्तम—अर्थात् धर्मकी सारी आवश्यकताओं को पूरा करने वाला, लोक परलोक की उन्नति के पूरे साधन बतलाने वाला । ऐसे साधन जो अचूक हों, और जिनसे सुगम कोई और साधन न हो ।

५—ऋषियों के प्रेम से प्रकाशित हुआ । अर्थात् पहले कल्प में जिन मनुष्यों ने अपना जीवन वैदिक बनाया, और वेद के प्रचार में बिताया, उनके इस अतुल प्रेम से ही परमात्माने

उनके हृदयों में अपने ज्ञान का प्रकाश किया। इससे यह भी बोधन किया है, कि परमात्मा ने जगत् में अपने ज्ञानका प्रकाश करने के लिए जो ऋषिविशेष चुने, यह चुनाव उसका उनके कर्मानुसार था, मनमाना न था। कुरान और इञ्जील इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते, कि क्यों परमात्मा अपना ज्ञान देने के लिए एक को विशेषता देता है, वहां वेद इस त्रुटि को पूरा कर देता है।

६—गुफा में रक्षित था। इससे यह बोधन किया है, कि ऋषियों पर प्रकाशित होने से पहले यह ज्ञान जगत् में था ही नहीं। इससे पूर्व वह परदे में था।

इस प्रकार इस मन्त्र में ईश्वरीय ज्ञान का प्रादुर्भाव बतलाते हुए ईश्वरीय ज्ञान की पहचान भी बतला दी है।

सक्तु मिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाच मक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि। २।

चालनी से सत्तुओं की नाईं मनसे शोधकर ज्योंही कि उन ऋषियों ने वाणी का प्रयोग किया, त्योंही उन साथियों ने आपस के साथ पहचान लिये, क्योंकि इन सबकी वाणी पर जगत् का कल्याण लाने वाली एकही मुहर लगी थी।

भावार्थ—ये ऋषि जिन पर वेद प्रकाशित हुए, वस्तुतः एक दूसरे के साथी थे, क्योंकि परमात्मा ने इन सबको एकही उद्देश के पूरा करने के लिए भेजा था, पर यह बात वे न जानते थे, अब जूं ही कि उन्होंने मन्त्र उचारे, तब उन्होंने आपस साथ पहचान लिये, यह जान लिया, कि उसी एक के भेजे हुए हम सब उसी की आज्ञाओं का प्रचार करने आए हैं। यह कैसे जाना, इस लिए

कि सबकी वाक् पर जगत का कल्याण लाने वाली एक ही मुहर लगी थी, अर्थात सबके मन्त्र जगत के कल्याण के रंग में ही रंगे थे। इस मन्त्र से अनेक ऋषियों पर मन्त्रों का प्रकाशित होना स्पष्ट किया है, बहुतों पर प्रकाशित होना ही अधिक युक्ति-युक्त और संदेह रहित भी है। एक पर तो संदेह हो सकता है, कि वह अपने मनके भाव कहता हो, पर जब बहुतों पर अलग २ मन्त्र प्रकाशित हों, और हों एक दूसरे के पोषक, तो संदेह-लेश भी नहीं रहता।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसंनवन्ते। ३।

पूर्व पुण्य के द्वारा लोगों ने वाक् की योग्यता प्राप्त की और ऋषियों में प्रविष्ट हुई उस वाणी को ढूंढ पाया, उसको लाकर उन्होंने सब में फैला दिया। सात स्तोता (गायत्री आदि सात छन्द) उस वाक् को गाते हैं।

इसमें ये बातें बतलाई हैं, कि एक तो वाक् ऋषियों ने बनाई नहीं, किन्तु उनमें प्रविष्ट हुई। दूसरी यह, कि वह सबमें फैलाई गई, अर्थात सारे लोगों को पढा दी गई। यही आशय 'सर्वान् मनुष्यानध्यापयामासुः' इस व्याख्या से सायणाचार्य ने भी प्रकट किया है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है, कि वैदिक धर्म आदि में सब लोगों का एक धर्म था। इसीकी ओर कुरानशरीफ का यह निर्देश है, (कि आदि में सब) लोग एकही दीन रखते थे'॥

इस प्रकार ईश्वरीय पुस्तक की परीक्षा करने से केवल वेद ही ईश्वरीय पुस्तक ठहरते हैं। हां कुरान और इञ्जील के

अनुयायी एक और परीक्षा भी बतलाते हैं, और वह हैं, सिद्धियां, (करामातां, मुअजज़े)। जैसा कि कहा जाता है, कि हजरत मुहम्मद साहेब ने चांद के दो टुकड़े कर दिए थे. हजरत मसीह ने मुरदे जिला दिये थे। किन्तु ये बातें अब विद्वानों में श्रद्धेय नहीं रहीं। न ही ये ईश्वरीय पुस्तक की निर्णायक हो सकती हैं, क्योंकि ये सिद्धियां जैसी हजरत मुहम्मद साहेब और हजरत मसीह के विषय में मुसल्मान और ईसाइयों की ओर से बतलाई जाती हैं, ऐसी ही बल्कि उनसे भी बढ़कर ऋषियों के विषय में पुराण और इतिहासों में बतलाई गई हैं। बल्कि यह युक्ति ईश्वरीय पुस्तक की निर्णयिका छोड़ साधिका भी नहीं होसकती, क्योंकि ऐसी सिद्धियां उन योगियों फकीरों के विषय में भी प्रसिद्ध हैं, जो ऋषि वा पैगम्बर नहीं माने जाते। किंच सिद्धियों से यदि ईश्वरीय पुस्तक की सिद्धि करनी हो, तो अब भी सिद्धियां दिखलाकर ही उनकी सिद्धि करनी पड़ेगी, क्योंकि जिनके सामने सिद्धि हुई, उन्होंने सिद्धि देख कर ईश्वरीय मान लिया, हमारे सामने हुई नहीं, हम कैसे मानें। सर्वथा सिद्धियां न ईश्वरीय पुस्तक की साधिका हैं, न इनकी अपनी ही सिद्धि में कोई प्रबल प्रमाण है। इस लिए यह और ऐसी और भी युक्तियां हमने त्याग दी है॥

सर्वथा जब युक्ति और शब्द प्रमाण से यह निश्चय होगया, कि आदिधर्म वैदिक धर्म ही है, और वही पहले सब मनुष्यों का धर्म था। उस आदि धर्म के भूलने से ही नए पैगम्बरों की आवश्यकता हुई, तब इस बात का देखना भी आवश्यक है, कि ऐसा कोई चिन्ह अब भी इन धर्मों में पाया जाता है, वा नहीं, जिससे यह बात और भी दृढ़ होजाय कि सचमुच ये धर्म वैदिक-

धर्म की छाया में उत्पन्न हुए हैं। सो बाइबल में वेदि बनाने (देखो निर्गमन अध्याय १८) उस पर धूप धुखाने और होम बलि देने (देखो निर्गमन ४० । २७-१०) की जो यहोवा की आज्ञा है । यह वैदिक धर्म की निःसंदेह छाया है । शुद्धि में मुण्डन, स्नान और वस्त्र प्रक्षालन (देखो लैव्य व्यवस्था १४) भी वैदिक धर्म की पूरी छाया है । धातों और वस्त्रों की शुद्धि अग्नि और जलसे (गणना ३१ । २२-२४) यह भी वैदिक धर्म की छाया है । "पर यहूदा का जेठा एर जो यहोवा के लेखे में दुष्ट था, इस लिए यहोवा ने उसको मार डाला । ८ । यह देख के यहूदा ने ओनान से कहा, अपनी भौजाई के पास जा और उसके साथ देवर का धर्म करके अपने भाई के लिए सन्तान जन्मा" (उत्पत्ति ३८) यह नियोगका विधान भी वैदिक धर्म की छाया है । इस प्रकार यहूदी धर्म पर स्पष्ट वैदिक धर्म की छाया पाई जाती है । और यहूदी धर्म का जैसा अपूर्व मेल कुरानशरीफ के धर्म से है, वह पूर्व दिखला दिया है ।

दूसरी बड़ी स्पष्ट छाया यह है, कि वैदिक धर्म में जो ईश्वर की महिमा गाई है, वह भिन्न २ नामों से भिन्न २ महिमा गाई है । उनमें से इन्द्र शब्द से परमात्मा की यह महिमा गाई है, कि उनका स्थान अन्तरिक्ष (आकाश) है । अपनी प्रजा के कल्याण के लिए वे आकाश में सूर्य को उदय करते हैं । आकाश से जल बरसाते हैं । वृत्र (मेघ) जब सूर्य को ढांपकर पृथिवी को अन्धकार से ढांप देता है, तो उसको वे अपने वज्र (विद्युत्) द्वारा टुकडे २ करके (अर्थात् बूंदों के रूप में) पृथिवी पर गिरा कर जगत् का कल्याण करते हैं, और सूर्य को फिर प्रकाशित करते हैं । इन्द्र बल के अधिपति हैं, और उनके वृत्र को मारने

के कर्म को युद्ध के रूप में वर्णन किया है। जल और प्रकाश दोनों प्रजा के कल्याण के साधक है, वृत्र उन दोनों को रोक कर बैठता है। तब इन्द्र अपनी प्रजा का कल्याण साधन करता हुआ उसको मारकर जल और प्रकाश को जीतकर अपनीप्रजा को देता है। अतएव प्रजाएं भी युद्धों में अपनी सहायता के लिए परमात्मा को इसी इन्द्र नाम से पुकारती हैं। इन्द्र युद्धों में आर्यों का सहायक और दस्युओं का नाशक है। मानुष युद्ध में दस्यु ही वृत्र हैं, जिनको इन्द्र जीत कर आर्य प्रजा का कल्याण साधन करता है। इसी प्रकार अध्यात्म युद्धों में भी इन्द्र अपने भक्तों को विजय दिलाता है अध्यात्म युद्ध में वृत्र (असुर) खोटी वासनाएं हैं, जो पुरुष को पाप में प्रेरती हैं। सो इस प्रकार इन्द्र और वृत्र का रूपक अलंकार से संग्राम वर्णन किया है।

यह इन्द्र ही (जिस नाम से वरुण आदि नाम वत् परमात्मा की एक महिमाविशेष का वर्णन है, न कि सकल महिमाओं का) होली बाईबल और क़ुरान शरीफ में ईश्वर माना है। अतएव उस का स्थान आकाश बतलाया है।

और ईश्वर के विरुद्ध लोगों को बहकाने वाला जो शैतान माना है, वह यह वृत्र (खोटी वासनाएं) ही है। वृत्र को वेद में अहि भी कहा है। अहि सांप को कहते हैं, मानों खोटी वासनाएं सांप हैं, जो पुरुष को डसती हैं। शैतान को भी बाइबल में सांप के रूप में वर्णन किया है। ईश्वर ने जिस वृक्ष का फल खाने के लिए आदम को वर्जा था, सांपने ही बहका कर उस का फल खिलाया था। यह दूसरे नाम का कैसा अद्भुत मेल है। इस से भी बढ़ कर

एक और अद्भुत मेल है, कि इसी वृत्र का ऋग्वेद में इलीविश नाम भी आया है (देखो ऋग्० १।३३।१२) और इधर बाइबल और क़ुरान में शैतान का नाम इब्लीस हैं। तब क्या संदेह रह जाता है, कि यह सिद्धान्त वेद से ही लिया गया है। भेद इतना है, कि वेद में जहां यह अलङ्कार से वर्णन है, वहां बाइबल और क़ुरान में शैतान को एक असली व्यक्तिविशेष मान लिया है, और इन्द्र जहां ईश्वर की एक महिमाविशेष का द्योतक है, वहां इसी को परमेश्वर का पूर्ण स्वरूप मान लिया है। सो ईश्वर से उपदिष्ट आदिधर्म (सारी दुनिया का सांझा एक दीन) वैदिक धर्म है, यह निःसंदेह सिद्ध होता है।

(प्रश्न) परमात्मा का द्वार तो सब जीवों के लिए सदा खुला रहता है, जैसे पहले जीवों को वह वायु जल और आहार देता चला आया है, वैसे अब भी देरहा है, और देता रहेगा, उसकी दात अपनी प्रजा के लिए कभी बंद नहीं होगी। इसी प्रकार आगम (इलहाम) भी उसकी दात है। इसके लिए भी परमेश्वर का द्वार हर समय मनुष्य पर खुला रहना चाहिये। जो भी जिस समय अधिकारी हो, उस पर परमेश्वर का आगम प्रकाशित हो सकता है। ऐसा न मानने में तो ईश्वर की कोई महिमा नहीं बढ़ती, और जब मान लिया, तो फिर वेदवत् बाइबल और क़ुरान के इलहामी मानने में भी कोई बाधा नहीं आती, और यह अधिक संभव है, कि परमेश्वर हर एक जाति के अन्दर अपने ऋषि वा पैगम्बर भेजे, जो उनको धर्म का सीधा मार्ग दिखलाएं। और जब २ आवश्यकता हो, तब २ भेजता रहे। इतिहास भी इस बात का साक्षी है, कि हर एक जाति में महापुरुष होते चले आये हैं।

(उत्तर) निःसंदेह परमेश्वर का द्वार तो सबके लिए खुला रहता है, पर जो दात वह अपनी सारी प्रजा की भलाई के लिए स्वयं देता है, वह ऐसी परिपूर्ण और पर्याप्त होती है, कि फिर कोई आवश्यकता शेष नहीं रहती। जैसे आंख उसने सब प्राणियों को दी है, उन सबके लिए जो बाह्य प्रकाश की आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति के लिए एक ही परिपूर्ण सूर्य उत्पन्न कर दिया है। जहां, वा जब सूर्य का प्रकाश न मिले, वहां वा तब मनुष्य इसके खुले द्वार से अपनी २ पहुंच के अनुसार प्रकाश लेकर थोड़े बहुत स्थान से अन्धकार मिटा सकता है, पर वह प्रकाश सूर्य का स्थान कभी नहीं लेसकता। यद्यपि वह उतना समय मार्ग दिखलाता है, पर कुछ दूर तक,- और वह भी सूर्य के उदय होने तक। सूर्य उदय होजाने पर उसकी आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार परमात्मा धर्माधर्म की शिक्षा के लिए वेदका प्रकाश स्वयं मनुष्य को देता है। अतएव वह सूर्यवत् एक मात्र परिपूर्ण रूप में मनुष्य को दिया जाता है। हां जहां वा जब वेद का प्रकाश न मिले, वहां वा तब मनुष्य ईश्वर के खुले द्वार से अपनी २ पहुंच के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान लेकर थोड़े बहुत स्थान से अन्धकार मिटा सकता है। पर वह ज्ञान वेद का स्थान कभी नहीं ले सकता। जैसा कि स्वयं वेद ही इस बात को स्पष्ट कर देता है—

य स्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥ (ऋग् १०।७१।६)

जो मित्र के पहचानने वाले इस मित्र (वेद) का त्याग-

करता है, उसका भी (ऐश्वरी) वाक् में कोई भाग नहीं है, वह जो सुनता है, अपर्याप्त सुनता है, क्योंकि वह पुण्य के मार्ग को पूरा २ नहीं जानता है ॥ अभिप्राय यह है, कि जो पुरुष स्वाध्याय प्रवचन और वेदोक्त धर्म के पालन से वेद के साथ मैत्री दिखलाता है, वेद भी उसका साथी बनकर उसे पार पहुंचा देता है, और जो इसको त्याग कर मार्ग ढूंढता है, वह पुण्य के मार्ग को पूरा नहीं जान पाता । " पूरा नहीं जानता " इस वचन में बडी उदारता दिखलाई गई है । यह नहीं कहा, कि जो वेद को त्यागता है, वह नारकी है, और यह भी नहीं, कि वह धर्म का मार्ग कुछ भी नहीं जानेगा, किन्तु यह, कि वह " पूरा नहीं जानता " । क्योंकि वेद सूर्यस्थानी है । कोई भी प्रकाश सूर्य का स्थान नहीं लेसकता, यद्यपि अन्धेरे का मिटाना ही हर एक प्रकाश का काम है ।

सो ईश्वर का द्वार तो सदा खुला रहेगा, पर सारे सौर जगत् में सूर्य अकेला ही है, ऐसे ही सारे धर्मजगत् में वेद अकेला ही है, और अकेला ही रहेगा । हां जब यह सूर्य न रहेगा । अर्थात् प्रलय आजाएगी, उसके पीछे फिर नए सिरे से उत्पन्न होगा, इसी प्रकार वेद भी प्रलयानन्तर ही नए सिरे फिर प्रकाशित होगा । यह खुले द्वार का ही फल है, कि हर एक सृष्टि के आदि में वेद भी प्रकाशित होता आया है, और होता रहेगा ॥

सारांश यह, कि वेद का आगम परमेश्वर ने मनुष्य को मार्ग दिखलाने के लिए स्वयं भेजा है, इस लिए वह सारी सचाइयों पर पूरा प्रकाश डालता है । दूसरे आगम मनुष्य ने प्रयत्न करके परमेश्वर से पाये हैं, इस लिए वह उन्हीं सचाइयों को

प्रकाशित करते हैं, जिनके पाने के लिए उनके पाने वालों ने स्वयं प्रयत्न किया है। और यह बात भी वेद ने स्वयं दो प्रकार के ऋषि बतलाकर प्रकट करदी है। जिनको परमेश्वर आदि सृष्टि में भेजते हैं, वे दैव्य ऋषि कहलाते हैं, और जो यत्नों की कमाई से ऋषि बनते हैं, वे श्रुतिऋषि कहलाते हैं। दैव्य ऋषियों से पहले वाग्व्यवहार नहीं होता, इस लिए उनको जब परमात्मा ज्ञान देते हैं, तो वाणी भी साथ देते हैं, जैसा कि उन के विषय में वेद बतलाता है 'तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्

(ऋग् १०। ७१। ३)

ऋषियों में प्रविष्ट हुई उस वाणी को ढूंढ पाया॥ सो इन दैव्य ऋषियों की वाक् ऐश्वरी वाक् होती है। इस प्रकार नित्या वाक् के प्रकाश होजाने के अनन्तर जो मनुष्य धर्म के मार्ग पर चलकर ईश्वर का सायुज्य प्राप्त करते हैं, उनको भी परमात्मा साक्षात् ज्ञान देते हैं, ईश्वर की इस महिमा को ही वेद में इस प्रकार प्रकाशित किया है 'ऋषिकृन्मर्त्यानाम्= तू मनुष्यों को ऋषि बनाने वाला है। ये ऋषि श्रुत ऋषि हैं।

इन श्रुतऋषियों के समय वाग्व्यवहार तो प्रचलित होता है, इस लिए इनको दैव्यऋषियों की नाईं वाक् के ईश्वर से पाने की तो आवश्यकता नहीं। हां यदि वे उस आदि वाक् का रहस्यार्थ साक्षात् ईश्वर से पाना चाहते हैं, तो जब २ जिस २ मन्त्र के अर्थ के प्रकाश के लिए परमात्मा में युक्त होते हैं, तब २ उस २ मन्त्र का अर्थ उनको परमात्मा साक्षात् कराते हैं। इस लिए जब कभी वेद का रहस्यार्थ पूर्णतया प्रकाशित नहीं रहता, तभी ऐसे ऋषियों के द्वारा फिर प्रकाशित

होता है । ऐसे श्रुतऋषियों के द्वारा वेद का रहस्यार्थ युग २ में प्रकाशित होता रहे, इसके लिए स्वयं वेद भगवान् ने गृहस्थों को परमात्मा से यह प्रार्थना करनी सिखलाई है—

सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र । श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाह मस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ (ऋग् १० । ४७ । ३)

हे इन्द्र हमें वेद का प्रेमी, परमात्मा का भक्त, उदार कर्मा, विशालहृदय, गम्भीर, फैली हुई जड़ों वाला, तेजस्वी, शत्रुओं को दबाने वाला, आश्चर्य काम कर दिखलाने वाला, शक्ति शाली श्रुतऋषि पुत्र दो ।

यहां श्रुतऋषि के जो विशेषण दिये हैं, इनसे स्पष्ट है, कि साक्षात् परमात्मा से प्रकाश पाने का पात्र वही होसकता है, जो इन गुणों से युक्त हो । श्री स्वामीजी महाराज प्राचीन समय के श्रुतऋषियों का इस प्रकार वर्णन करते हैं "धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब २ जिस २ (मन्त्र) के अर्थ के जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थहुए, तब २ परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये, जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थ का प्रकाश हुआ, तब ऋषिमुनियों ने वे अर्थ और ऋषिमुनियों के इतिहास पूर्वक ग्रन्थ बनाये, तब उन का नाम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसका व्याख्यान ग्रन्थ होने से ब्राह्मण नाम हुआ" (सत्यार्थप्रकाश)।

ये श्रुतऋषि तो ऐश्वरी वाक् के सहारे पर परमत्मा से प्रकाश पाते हैं । अब जो ऐश्वरी वाक् का सहारा न लेकर स्वतन्त्रता से किसी धार्मिक सचाई के साक्षात् करने के लिए ईश्वर

में समाधिस्थ होते हैं, उनको भी उस सचाई का प्रकाश होता है, पर वाक् उनकी अपनी होती है, क्योंकि अब वाक् उनके पास पहले ही है। दूसरा यह कि वे जिस सचाई के लिए प्रयत्न करते हैं, वही उनपर प्रकाशित होती है। यह भी एक प्रकारका आगम है। यह भी धर्म के विषय में प्रमाण होता है, पर परम प्रमाण वही आदि आगम होता है, और कोई नहीं होसकता। सूर्य के प्रकाश में जैसी वस्तु प्रतीत होती है, यदि दूसरे किसी प्रकाश में वैसी प्रतीत न हो, (जैसे गूढ़ लाल और काले में दीपक के प्रकाश में बहुधा भेद नहीं प्रतीत होता) तो मानी वैसी जाती है, जैसी सूर्य के प्रकाश में प्रतीत होती है। सो वेद में दूसरे आगमों से ये विशेषताएं हैं—

(१) वेद के मानने में धर्म सम्बधी वे सारी सचाइयां आजाती हैं, जो भी साक्षात् परमात्मा से किसी भी योगीजन पर प्रकाशित हुई हैं, दूसरे किसी भी आगम में वे सारी इकट्ठी नहीं मिलती हैं।

(२) वेद की वाक् ऐश्वरी है, अन्यत्र वाक् मानुषी है।

(३) धर्म में परम प्रमाण वेद ही है। कोई भी आगम वेद के विरुद्ध प्रमाण नहीं माना जासकता है।

(४) वेद सार्वभौम धर्मका उपदेश देता है। उसके उपदेश जाति देश और काल के बन्धन से निर्मुक्त हैं। दूसरे आगम जाति विशेष वा काल विशेष से सम्बन्ध रखते हैं।

यह विशेषता तो सर्वथा दूसरे आगमों से है ही, पर आगम माना हुआ पुस्तक वस्तुतः आगम ही है, और जैसा वह ईश्वर से मिला था, ज्यों का त्यों बना है, इस के लिए उन ग्रन्थों की भीतरी और ऐतिहासिक साक्षिओं की आवश्यकता

है। इस दृष्टि से जब हम बाईबल को देखते हैं, तो जिन बातों का हम पीछे वर्णन कर आए हैं, उन से अतिरिक्त ऐसी बातें भी देखते हैं 'यह सुन के उसने उस का नाम शिबा रक्खा, इसी कारण उस नगर का नाम बर्शेबा पड़ा और आजलों भी वही नाम प्रसिद्ध है" (उत्पत्ति २६। ३१) इत्यादि इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं, कि बाइबल पुरानी कहावतों के सहारे पर लिखी गई है। इन कहावतों की सत्यता में भी संदेह होसकता है, जैसा कि मैडम ब्लोटस्की लिखती हैं, कि हजरत मूसा की जन्मकथा जो निर्गमन पुस्तक में दी गई है, वह बनावटी है। यह कथा वस्तुतः राजा सारगण की है, जो मूसा से पहले हुआ। यह अद्भुत कथा कुनपनमैक में तख्तियों के टुकड़ों पर मिली है, जिसमें अकद के राजा सारगण ने स्वयं अपनी जन्म कथा इस प्रकार लिखी है। मेरी माता ने मुझे नागरमोथे की नाव में रखकर दरया में डाल दिया, दरया ने मुझे डुबोया नहीं, वहां से मुझे एक कहार उठा लाया, इत्यादि। इधर पुराने धर्म पुस्तक में हजरत मूसा की जन्मकथा भी इसी प्रकार लिखी मिलती है "और जब वह(हजरतमूसा की मां उस को चिरकाल तक न छिपा सकी, तो उसने उसके लिए नागरमोथे की नाव बनाई और उसमें चिकनी मिट्टी और राल लगाई और बच्चे को उस में रक्खा, और दरया के किनारे नरसलों में रख दिया"। मेडम ब्लोटस्की इस पर लिखती हैं कि यह कथा हजरत इजरा ने बाबल में जो सारगण राजा की सुनी थी, इसको यहूदी धर्मोपदेष्टा (हजरतमूसा) के साथ जोड़ दिया है। कुरानशरीफ में भी यह कथा हजरतमूसा की लिखी है, जैसा कि यहूदियों से हजरत मुहम्मद साहेब ने सुनी। नए धर्मपुस्तक (इञ्जील)

के विषय में पहले तो यह निःसंदेह है कि हजरत मसीह के उपदेश उनकी मृत्यु के पीछे उनके शिष्यों ने लिखे अतएव उनके ज्यों के त्यों रहने में पूरा संदेह होसकता है, और उसके प्रमाण भी हैं। हजरत मसीह की मृत्यु के विषय में मार्क रचित इञ्जील में है कि "एक पहर दिन चढ़ा था, कि उन्होंने उसको क्रूश पर चढाया" (१५ । २५) योहन रचित में है, कि दोपहर के समय तो पिलात न्यायासन पर बैठा, उस समय कुछ बात-चीत भी हुई, उसके पीछे पिलात ने हजरत मसीह को यहूदियों के हवाले किया, और तब उन्होंने जाकर क्रूश पर चढाया (योहन १९ । १३-१९) यह तो समय का भेद है। दूसरा भेद यह है कि लूक रचित इञ्जील में है, कि जो दो डाकू हजरत मसीह के संग क्रूश पर लटकाए गए थे, उनमें से एक ने हजरत मसीह की निन्दा करके कहा, कि क्या तू मसीह नहीं, तू अपने आपको भी बचा, और हमको भी बचा, तिस पर दूसरे डाकूने इस डाकूको झिडककर कहा, कि क्या तू ईश्वर से नहीं डरता (लूक २३ । ३९)। पर मत्ती (२७। ४४) और मार्क (१५। ३२) में यह लिखा है, कि दोनों डाकुओं ने हजरत मसीह की निन्दा की। तीसरा भेद हज़रत मसीह के कबर में से निकाले जाने वा जी उठने के विषय में है। योहन (२० । १) में है, कि मरियम मगदलीनी नामी केवल एक ही स्त्री मसीह की कबर पर आई, और उसी ने जाकर पता दिया, कि प्रभु को कबर में से ले गए। और मत्ती (२८ । १) में है, कि दो स्त्रियां आईं। मरियम मगदलीनी और दूसरी मरियम कबर को देखने आईं। और मार्क (१६ । १) में है, कि तीन स्त्रियां आईं मरियम मगदलीनी, याकूब की मा मरियम और शालोमी।

लूक (२४ । १०) में है, मरियम मगदलीनी, योहाना, याकूब की मा मरियम ये तीन और इन के साथ और कई स्त्रियां आई । चौथा भेद है । मत्ती (२८ । २) में है । कि एक फिरिश्ता आकाश से उतरा, उसने पत्थर लुढ़काया और कबर पर बैठगया । मार्क (१६ । ५) में है, कि कबर के भीतर जाकर उन्होंने एक फिरिश्ता बैठा हुआ देखा । और योहन (२० । १२) में मरियम ने एक सिरहाने और दूसरा पायंती बैठा हुआ ये दो फिरिश्ते देखे । पांचवां भेद यह है, मत्ती (२८।८) और लूक (२४।९) में है, मसीह के कबर में से उठाया जाने का पता मसीह के शिष्यों को स्त्रियों ने जाकर दिया । मार्क (१६ । ८) में है, कि उन्होंने मारे डर के किसी से कुछ नहीं कहा । योहन (२० । ३) में है कि फिरिश्तों के आने से पहले पितर और योहन देख गए थे । लूक (२४ । १२) में है, कि अकेला पितर कबर पर गया और वह भी फिरिश्तों के आने से पीछे । छटा भेद हज़रत मसीह के कबर में से उठाये जाने पीछे दृष्टि गोचर होने के विषय में है । मार्क (१६।९) और योहन (२० । १४) में है केवल मरियम मगदलीनी ने देखा । मत्ती (२८ । ९) में है दोनों मरियमों ने देखा । लूक (अ. २८) में इन में से किसी के भी दृष्टि गोचर होना नहीं लिखा । इस प्रकार जब इतिहास में भेद होगया है, तो उपदेश ज्यों के त्यों रहे हैं, यह कैसे संभव होसकता है ।

कुरान शरीफ को इस दृष्टि से देखने में हम यह पाते हैं 'बेशक मुसल्मान और यहूदी और ईसाई और साबी इन में से जो लोग ईश्वर पर और प्रलय के दिन पर विश्वास लाए, और अच्छा काम करते रहे, उनको उनका फल उनके पालनहार

से मिलेगा" (सूरत अलबकर) यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है, कि अच्छे कर्मों का अच्छा फल तो आर्यों और अन्यजातियों को भी मिलेगा ही, पर उनका यहां वर्णन क्यों नहीं। यदि यह ईश्वर वचन हो, तो ईश्वर को तो कुछ अज्ञात नहीं, आर्यों और दूसरी सारी जातियों का भी नाम आजाना चाहिये था। हां यदि हज़रत मुहम्मद साहेब का वचन है, तो ठीक है, क्योंकि उनके अपने परिचय के अनुसार यही ठीक है। और सूरः आला में है "(हे पैगम्बर) हम तुम को पढादें गे, कि तुम भूलने न पाओ गे, हां किसी आयत को खुदा ही भुलादेना चाहे (तो दूसरी बात है)" इससे स्पष्ट है, कि कई आयतें भूल भी जाती थीं, फिर कुरान जैसा उतरा था, ज्यों का त्यों बना है, यह कैसे सिद्ध होसकता है। और यह भी कहा है "(हे पैगम्बर) हम कोई आयत मनसूख करदें, अथवा तुम्हारे चित्त से उसको उतार दें, तो उससे उत्तम वा वैसी ही नाज़ल भी करदेते हैं" (सूरत अल बकर) इस में दो बातों का वर्णन है, कि हज़रत साहेब पर जो आयतें उतरती थीं, उनमें से कभी कोई मनसूख भी करनी पड़ती थी, दूसरी यह, कि कभी २ कोई आयत याद से ही भूल जाती थी, इन दोनों बातों पर लोगों को आक्षेप था, इसका उत्तर यह दिया गया, कि उससे उत्तम अथवा वैसी ही नाज़ल कर देते हैं, पर यह उत्तर सन्तोष जनक नहीं, मनसूख करने की ज़रूरत तभी होती है, जब उसमें कोई भूल हो, और भूल ईश्वर के ज्ञान में हो नहीं सकती।

कुरान के ईश्वरीय होने में उस समय के लोगों को पूरा २ संदेह भी था, यह बात कुरान के कई स्थलों से विदित होती है, और यह भी कि हज़रत उनको विश्वास नहीं दिला सके। हां पैगम्बरों को जो फरिश्ते दिखाई देते, और वचन सुनाई देते हैं,

इसका रहस्य अवश्य विचारणीय है किन्तु इसका उत्तर योग से स्पष्ट मिल जाता है। ध्यानावस्थित योगी जिस विषयको जानना चाहता है, संयम विशेष से जान लेता है। और संकल्पित वस्तु के ध्यान में संकल्प के अनुसार रूप दिखाई देते और वचन सुनाई देते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में इष्ट पुरुष वा संकल्पित देवता दिखाई देते और वचन कहते प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं. किन्तु होता यह सब कुछ मानस ही है, बाह्य में इसकी कोई सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार मानसिकयोग में मानस ही फिरिश्ते दिखाई देते और मानस ही वचन सुनाई देते हैं. बाह्य में उनकी कोई सत्ता नहीं होती। अतएव ये अपने २ संकल्प के अनुसार किसी को फिरिश्तेविशेष किसीको देवताविशेष किसीको ऋषिविशेष रूप से दीखते हैं। इसीको योग दर्शन विभूतिपाद सूत्र ३२ में इस प्रकार लिखाहै ' **मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्**=सिर के कपाल में जो ब्रह्मरन्ध्रनामी छेद है, उसके अन्दर जो चमकती हुई ज्योति है, उसमें संयम करने से सिद्धों के दर्शन होते हैं। ये दर्शन और श्रवण मानस होते हैं, अतएव पास बैठे हुए दूसरे लोगों को न दीखते हैं, न सुनाई देते हैं। यह योग की एक अवस्था विशेष है, जो हृदय की शुद्धि से प्राप्त होती है, अतएव उनके इस समय के वचन प्रायः यथार्थ होते हैं, पर साक्षात् ईश्वर से ज्ञान प्राप्त करने की अवस्था इससे और आगे चलकर मिलती है।

सर्वथा विचार करने पर वेद के ईश्वरीय होने में कोई संदेह शेष नहीं रहता। वेद धर्मों का स्रोत है। वेद में सर्वांग परिपूर्ण धर्म का वर्णन है। अतएव वेदके मानने में सारी सचाइयां आजाती हैं।

आर्यदर्शन समाप्त हुआ ॥

४–ग्यारह उपनिषदें

१–ईश उपनिषद .... =)	७–तैत्तिरीय उपनिषद ।≡)
२–केन उपनिषद .... =)	८–ऐतरेय उपनिषद .... ≡)
३–कठ उपनिषद .... ।–)	९–छान्दोग्य उपनिषद २)
४–प्रश्न उपनिषद .... ।)	१०बृहदारण्यक उपनि० २॥=)
५,६–मुण्डक और माण्डूक्य दोनों इकट्ठी ।–)	११–श्वेताश्वतर उपनिषद ।)॥
	१२–ग्यारह इकट्ठी लेनेमें ५॥)

५–उपनिषदों की भूमिका– ।)॥

६–उपनिषदों की शिक्षा–इस में उपनिषदों के वचन प्रमाण दे देकर हरएक विषय बड़े विस्तार से लिखा गया है।

पहला भाग–परमात्मा के वर्णनमें ॥=) **दूसरा भाग**–जीवात्मा की शक्तियों और पुनर्जन्म के वर्णन में ॥) **तीसराभाग** मरने के पीछे की अवस्थाओं के वर्णन में ॥) **चौथा भाग**–उपासना, उपासना का फल और मुक्ति के वर्णन में ॥=)

निरुक्त–इस पर भी २००) इनाम मिला है ४)

८–वेद के सूक्तों और मन्त्रों के भाष्य (१) वेदोपदेश ॥।) (२) स्वाध्याय यज्ञ ॥।) (३) आर्यपञ्चमहायज्ञपद्धति ।)॥ (४) वैदिक स्तुति प्रार्थना ≡) (५) वैदिक आदर्श)।

९ दर्शन शास्त्र–(१) योगदर्शन १) (२) वेदान्तदर्शन ३॥।) (३) सांख्य शास्त्र ॥=) (४) नवदर्शन संग्रह १) (५) न्याय-प्रवेशिका ॥=) (६) आर्यदर्शन १॥)–१०–पारस्करगृह्यसूत्र १॥)

नल दमयन्ती—महाभारत से नल दमयन्ती की सम्पूर्ण कथा=)
द्रौपदी का पति केवल अर्जुन था -)

११—मनुस्मृति—सरल भाषा टीका संहित। संस्कृत की पुरानी सात टीकाओं का मत भी अलग २ दिखलागया है, और दूसरे शास्त्रों के हवाले देकर उन के साथ एकता भी दिखलाई गई है। विषयसूची और श्लोकसूची भी साथ है। मनुस्मृति इस ढंग से और कहीं नहीं छपी ३)

१२—धर्मके उपदेश—(१) सफल जीवन ॥) (२) प्रार्थना-पुस्तक -) (३) वेद रामायण के उपदेश -) (४) वेद, और महाभारत के उपदेश -) (५) वेद, मनु और गीता के उपदेश -)॥

१३—स्कूली पुस्तकें—बालव्याकरण ॥) हिन्दी की पहली)॥ हिन्दी गुरमुखी)॥ हिन्दी उर्दू)॥

बाहर की पुस्तकें

(१) पं० सन्तराम जी कृत—शुद्ध रामायण २॥) (२) पं० आर्यमुनि जी कृत—न्यायार्यभाष्य २॥) (३) वैशेषिकार्य भाष्य २॥) (४) सांख्यार्यभाष्य १॥=) (५) मीमांसार्य भाष्य दो भाग ७) स्वामि दर्शनानन्द कृत (६) न्यायदर्शन १।) (७) वैशेषिक दर्शन १।) (८) सांख्य दर्शन ॥।)

नोट—इन के सिवाय और भी सब प्रकार की संस्कृत, हिन्दी, उर्दू पुस्तकें हमारे कार्यालय से रिआयत से मिलसकती हैं—

पता—मैनेजर
आर्षग्रन्थावलि लाहौर।